

जैन कथासागर

सचित्र

२

आचार्य श्री कैलाससागरसूरीधरजी



नमामि वीरं गिरिमारधीरम्

सच्चरित्र चूडामणि श्री गविसागरजी पुण्य शताब्दि प्रथमाला पुष्प - २

सचित्र जैन कथासागर

भाग - २

❖ संग्राहक ❖

प्रशांतमूर्ति पूज्यपाठ आचार्य प्रबन्ध

श्रीमत् कैलाससागरसूरीश्वरजी महाराज

❖ शुभ-आशीर्वाद ❖

शासन प्रभावक पूज्य आचार्य

श्रीमत् पद्मसागरसूरीश्वरजी महाराज

❖ प्रेरक/मार्गदर्शक ❖

ज्योतिर्विद् गणिवर्य

श्री अरुणोदयसागरजी म. सा.

❖ संपादिका ❖

साध्वीश्री शुभ्रांजनाश्रीजी म. सा.

❖ अनुवादक ❖

श्री नैनमलजी सुराणा

श्री अरुणोदय फाउन्डेशन, कोबा

मच्चारित्रि बुडामणि श्री रविसागरजी पुण्य शताब्दि ग्रंथमाला पुण्य - २

- पुस्तक** : श्री सचित्र जैन कथासागर भाग - २
- संग्राहक** : पूज्यपाद आचार्यश्री कैलाससागरसुरेश्वरजी म. या.
- संपादिका** : साध्वी श्री शुभ्रांजनाश्रीजी
- अनुवादक** : श्री नैनमलर्जा सुराणा
सुराणा कुटीर, रूपाखान मार्ग, भिरोही ३०७ ००१
- प्रकाशक** : श्री अरुणोदय फाउन्डेशन
पोस्ट कोवा, जिला गांधीनगर, गुजरात ३८२ ००९
- ISBN** : 81-86917-01-2 (Set)
81-86917-03-9 (Volume - II)
- मूल्य** : ४०/- (चालीस रूपय)
- भाषा** : हिन्दी
- संस्करण** : प्रथम **प्रतियाँ** : २०००
- अक्षरांकन** : श्री कैलाससागरसुरी ज्ञान मंदिर, कोवा
- मुखपृष्ठ** : श्री अशोकभाई शाह (पद्मापुत्र)
- मुद्रक** : चंद्रिका प्रिन्टरी, मिरझापुर रोड, अहमदाबाद ३८० ००१
- प्राप्तिस्थान** :

श्री अरुणोदय फाउन्डेशन

पुस्तक भंडार

कोवा - ३८२ ००९

जि. गांधीनगर

श्री अरुणोदय फाउन्डेशन

३-४, चार्टर टेन्क, प्रमवडनगर

जर्जीम वगला गड, यत्रापुर

अहमदाबाद

प्रकाशकीय.....

पिछले कई वर्षों से मनमें यह विचार बार-बार उपस्थित हो रहा था चरित्र चूड़ामणि पूज्य गच्छार्थपति आचार्य श्री कैलाससागरसूरीश्वरजी म. सा. द्वारा संगृहीत 'श्री कथासागर' ग्रंथ का गुर्जर भाषा में प्रकाशन हुआ है जिसका लाभ गुर्जर प्रजा अच्छी तरह से ले रही है। क्यों नहीं इस ग्रंथ का हिन्दी में अनुवाद प्रकाशित किया जाय?

शुभ संकल्प पूर्वक बोया हुआ यह विचार-बीज आज ग्रंथप्रकाशन के रूप में फलान्वित होत हुए देव हृदय आनंद से यन्ताप प्राप्त कर रहा है.

ग्रंथ का प्रकाशन करना कोई सरल काम नहीं है बल्कि उसके लिए चाहिए अनकों का सहयोग, 'सहयोग ही सफलता का मोपान है' उक्ति अनुसार इस ग्रंथ के प्रकाशन में हमें पूज्यपाद शासन प्रभावक आचार्यश्री पद्मसागरसूरीश्वरजी म. सा. का आशीर्वाद रूप सहयोग मिला है। प्रेरणा एवं मार्गदर्शन सहयोग मिला है। पू. गणिवर्य श्री अरुणोदयसागरजी म. सा. का अनुवाद के कार्य में श्री नैनमलजी सुराणा का एवं प्रस्तुत अनुवाद को संचक एवं सरल बनाने में सहयोग मिला है। पूज्या साध्वीवर्या शुभ्राननाश्रीजी महाराज का! विद्वद्वर्य डॉ. श्री जितेन्द्रकुमार बी. शाह के सहयोग को भी कैसे भूला सकते हैं? जिन्होंने अत्यंत व्यस्त होते हुए भी इस ग्रंथ के विषयानुरूप बहुत ही सुंदर मनोमय प्रस्तावना लिख कर भेजी है.

अंत में नामी-अनामी सभी शुभच्छक सहयोगीयों का आभार मानते हुए निकट भविष्य में भी हमें सभी का सहयोग निरन्तर मिलता रहेगा इसी आशा के साथ...

श्री अरुणोदय फाउण्डेशन

काया परिवार.

प्रस्तावना

डॉ. जिनेन्द्रकुमार बी. शाह

धर्म का मुख्य उद्देश्य जीव को शिव बनाना है। मानव को महामानव और पापमय को परमात्मा बनाने की कला ही धर्म है। अनादि काल से जीव रमण में परिभ्रमण करता हुआ अनेकविध कर्मफल का अंजन करता है। इस परिभ्रमण के काल में कभी किसी स-वर्णदाना गुरु का सुयोग प्राप्त होते ही जीव के विक्रम का प्रारंभ हो जाता है। अनेक जन्मों में अतिरिक्त कर्मों को दूर करने की प्रक्रिया का प्रारंभ हो जाता है। अर्थात् अनेकानेक महापुरुषों ने अपने पुरुषार्थ में जीवन को सफल करके आत्मा का संपूर्ण निर्मल किया है। ऐसे महापुरुषों को जीवनगाथा तो उच्च ही होती है, साथ साथ में अनेक जीवात्माओं को प्रणम भी होती है। अतः कथाएँ न केवल मनोरंजन के लिए होती हैं किन्तु अनेक आत्माओं को प्रणमदायी भी होती हैं। महापुरुषों के जीवन चरित्र को सुनकर अनेक जीवात्माने आत्मकल्याण किया है। इसलिए श्रावक के वेदितु सूत्र में तो यह कामना की गई है कि महापुरुषों के चरित्रों के श्रवण करते करते ही दिन पसरें हों! इसके अतिरिक्त भी कथाओं का बहुत मूल्य है, यहाँ कथाओं का संग्रह प्रकाशित हो रहा है, यह एक आनंद का विषय है।

आश्चर्य की भूमि कथाओं के लिए प्राचीनकाल में ही सुप्रसिद्ध है। इस धरा के ऊपर जितनी कथाओं का निर्माण हुआ है शायद ही अन्य किसी धरा पर उतनी कथाओं का प्रणयन हुआ हो! रहस्यात्मक कथाएँ, रोचक कथाएँ, धर्मोपदेशात्मक कथाएँ, लोककथा आदि का बड़ा संग्रह किया जाए तो न जाने कितने ग्रंथों का निर्माण हो जाएगा? किन्तु एक दुःख की बात यह है कि काल के प्रवाह में अनेक ग्रंथों का नाश हुआ। हमें अनेकानेक कथा ग्रंथों का भी नाश हो चुका है। साथ ही साथ एक सौभाग्य की बात है कि जैन साहित्य में अनेक कथाओं का संरक्षण हुआ है। इसलिए पाश्चात्य मर्निपि विन्टरनिल्य ने कहा है कि जैन विद्वानों ने यत्र तत्र बिखरी हुई लोककथाओं को अपने धार्मिक आख्यानों में स्थान देकर विपुल साहित्य को सुरक्षित रखने में सहायता प्रदान की है। अन्यथा हम उक्त साहित्य में बर्चित रह जाते। इस प्रकार जैन धर्म के साहित्य में अनेक कथा साहित्य के ग्रंथ उपलब्ध होते हैं, ये ग्रंथ अध्यात्मकी, भाग्यकी, शौर्यकी, महाराष्ट्रीय प्राकृत भाषाओं में उपलब्ध होते हैं साथ में संस्कृत, अपभ्रंश एवं स्थानीय भाषाओं में भी अनेक उत्तम कथा ग्रंथ प्राप्त होते हैं। आज तक इन कथा ग्रंथों की सूची तैयार नहीं हुई है और कथाओं की भी सूची तैयार नहीं हो पाई है अतः भविष्य में कोई विद्वान इस तरह की सूची तैयार करेगा तो साहित्य जगत की बहुत ही महती सेवा भली जाएगी! अम्न!

जैन साहित्य का उद्गम स्थान आगम ग्रंथ है। तीर्थंकर परमात्मा के उपदेश को गणधर भगवंतों ने आगम ग्रंथों में ग्रथित किया है। तत्पश्चात् शास्त्रकार महाभर्तिषणा ने उनकी व्याख्यान की रचना की है। इन आगम ग्रंथों को चार अनुयोग में विभाजित किया गया है। (१) द्रव्यानुयोग, (२) गणितानुयोग, (३) चरणकरणानुयोग एवं (४) कथानुयोग। इन चार अनुयोग में प्रधानता चरणकरणानुयोग की मानी गई है क्योंकि प्रन्तुत अनुयोग साध्य है अन्य तीन अनुयोग साधन स्वरूप हैं! तथापि जीव की विक्रम की प्रार्थमिक अवस्था में धर्मकथानुयोग ही उपयोगी होता है, एवं सभी अनुयोगों में धर्मकथानुयोग ही सुलभ, सुगम एवं सरल है अतः सभी को

उपयोगी हो सकता है। इस प्रकार जैन आगम में धर्मकथाओंको महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है।

आगम ग्रंथों में कथाओं के प्रकार, भेद-प्रभेद आदि के विषय में सूक्ष्म एवं गहन चिंतन प्राप्त होता है। कथाओं के प्रकार के विषय में जैन धर्म में जितना चिंतन किया गया है शायद ही अन्य धर्म में प्राप्त होता है। आगम ग्रंथ में सर्व प्रथम कथा के दो प्रकार विकथा एवं कथा क्रिया गया है।

जो कथा जीवन में विकार उत्पन्न करती है वह विकथा है उससे साधक को दूर रहने का उपदेश दिया गया है। ऐसी कथाओं का चार मुख्य भेद है यथा - स्त्री कथा, देश कथा, भक्त कथा और यत्र कथा। इन कथाओं के श्रवण में साधक के मनमें राग, द्वेष, क्रीधादि कषाय एवं कामादि विकार उत्पन्न होते हैं इससे जीवन उर्ध्वगामी न बनके अधोगामी बनता है। अतः जीवकों इन कथाओं से दूर रहने का उपदेश दिया है। धर्मकथा वह है जिसमें जीव का आत्मविकास हो इसके चार प्रकार बताए गए हैं।

(१) आक्षेपणी कथा, (२) विशेषणी कथा, (३) संवेदनी कथा और (४) निवेदनी कथा।

(१) **आक्षेपणी कथा** :- जिस कथा में जीव का ज्ञान एवं चरित्र के प्रति आक्षेपण पैदा होता है उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं।

(२) **विशेषणी कथा** :- जिस कथा में जीव सम्मार्ग में स्थापित हो उसे विशेषणी कथा कहते हैं।

(३) **संवेदनी कथा** :- जिस कथा में जीव को जीवन की नश्वरता, दुःख बहुलता, अशुचिना आदि का भाव हो और उसमें वैराग्य उत्पन्न हो उसे संवेदनी कथा कही जाती है।

(४) **निवेदनी कथा** :- जो कृत कर्मों के शुभाशुभ फल को बतलाकर संसार के प्रति उदात्तता बनाती हो उसे निवेदनी कथा कहते हैं।

इस प्रकार उक्त चार भेद एवं प्रत्येक कथा के प्रभेदों की चर्चा प्राप्त होती है। एक अन्य विभाग में कथाओं के तीन भेद किए गए हैं यथा धर्मकथा, अर्थकथा, काम कथा, उभावैकालिक मूल में कथाके चार भेद पाए जाते हैं, धर्म कथा, अर्थ कथा, काम कथा एवं मर्कण कथा।

जिस कथा में मानव की आर्थिक समस्याओं का समाधान किया गया है उसे अर्थ कथा कहते हैं।

जिसमें मानवी के केवल रूप सौंदर्य का ही नहीं अपितु! जातीय समस्याओं का विश्लेषण हो उसे काम कथा कहते हैं।

जिसमें जीवन को उन्नत बनाने वाले शील, संयम, तप, धर्म आदि का कथा द्वारा वर्णन किया गया हो उसे धर्म कथा कहते हैं। जिसमें धर्म-अर्थ एवं काम तीनों का वर्णन पाया जाता हो उसे मर्कण कथा या मिश्रकथा कहा जाता है। आचार्य हरिभद्रगुरिन कथाओं के उक्त विभागों का वर्णन समरानन्द कथा में किया है। धर्मकथा का छाड़कर अन्य दो प्रकारके कथाएँ समार की वृद्धि करने वालों हान के कारण त्याज्य माननी गई हैं। धर्म कथा कम निर्जरा का कारण हान से उपदेश्य माननी गई है।

उद्यानगुरि की कुयलवमाला कथा में कथाओं का एक अन्य विभाजन प्राप्त होता है उनके मतानुसार कथा के पांच प्रकार हैं, यथा-

(१) **मकल कथा** - जिस कथा के अन्त में सभी प्रकार के अभीष्ट की प्राप्ति होती हो उसे मकल कथा कही जाती है।

(२) खंड कथा - संक्षिप्त कथावस्तु वाली कथा को खंड कथा कहते हैं।

(३) उल्लापकथा - समुद्रयात्रा या साहसपूर्ण क्रिया गया प्रेम निरूपण जिसमें ही उल्लापकथा कहते हैं।

(४) परिहास कथा - हास्य एवं व्यंगात्मक कथा को परिहास कथा कहते हैं।

(५) संकीर्ण कथा - जिसमें कथा के अन्य तत्वों का प्रायः अभाव हो उसे संकीर्ण कथा कहते हैं।

इस प्रकार कथाओं के विभिन्न प्रकार उपलब्ध होते हैं। उन सबमें कर्मबन्ध करने वाली, गणद्वेष की वृद्धि करने वाली कथाएँ त्याज्य बताई गई हैं। धर्म कथा को ब्राह्म बताया गया है। इन धर्म कथा के श्रवण से जीव अपने पूर्ववत् कर्मों को नष्ट कर के आत्म विकास कर सकता है।

करीब २५०० वर्ष पूर्व यूनानी दार्शनिक सोक्रेटिसने कहा है कि कथावार्ताओं के श्रवण से मानव अपने भावावेशों का विरचन याने शुद्धीकरण करता है और उसमें यह सामर्थ्य प्राप्त करता है तत्पश्चात् सुखानुभव होता है। अतः कथाओंका श्रवण निरंतर करना चाहिए।

चरम शासनपति परमात्मा महावीर स्वामी को धर्मकथा के विषय में पूछा गया प्रश्न एवं उत्तर इस प्रकार है -

धम्म कहाए णं भंते! जीवे किं जणयइ? धम्मकहाए णं निज्जरं जणयइ. धम्म कहाए णं पवयणं पभावेइ, पवयण पभावे णं जीवे आगमिसस्स भदत्ताए कम्मं निबन्धइ (उत्तरा. २९/२८)

अर्थात् - हे भगवन्त! धर्म कथा से जीव क्या प्राप्त करता है?

उत्तर - धर्म कथा से निर्जरा होती है, जिन प्रवचन की प्रभावना होती है, प्रवचन की प्रभावना करने वाला जीव भविष्य में कल्याणकारी फल देने वाले कर्मों का अर्जन करता है।

यहाँ यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अन्य कथाओं की तरह धर्मकथा न केवल मनोरंजन करने या कालक्षेप करने के लिए ही है अपितु धर्मकथा का श्रवण-मनन-वाचन जीवन की शुद्धि का एक अपूर्व साधन भी है। कथावार्ताओं से मानव जीवन का विकास होता है। श्रवण एवं पठन से जीवन में रस पैदा होता है। पुण्य का अर्जन होता है पाप का नाश होता है, जीवन में यदाचार स्थिर होता है और असदाचार का नाश होता है। मलीन भावों के दुष्ट परिणामों के ज्ञान से निवृत्त होता है एवं शुभ भावों के आचरण से लाभ होता है यह जानकर उसमें प्रवृत्त होता है यन्मार्ग में उत्साह पैदा होता है, मंत्री आदि शुभ भावोंका भी उद्भव होता है। क्रोधादि कषायों का नाश होता है। इस प्रकार धर्मकथाएँ जीवन में अनेक प्रकार से उपयोगी हैं। इसीलिए महान् ज्ञानाचार्यों ने एक ओर उच्च कोटी के शास्त्र ग्रंथों का निर्माण किया वहीं दूसरी ओर लोकभाष्य, सरल एवं सुवाच्य भाषा में उपदेशात्मक कथा साहित्य का भी निर्माण किया है। जैन कथा साहित्य का संक्षिप्त इतिहास का अवलोकन आवश्यक है।

जैन धर्म के मूल शास्त्र ग्रंथ आगम हैं। आगम ग्रंथों में जहाँ दर्शन, गिद्धान्त, भूगोल, खगोल आदि विषय का विवेचन प्राप्त होता है वहीं धर्मकथाओं का संग्रह भी प्राप्त होता है। ज्ञानाधर्मकथा नामक अंग आगम में अनेक कथाओं का संग्रह प्राप्त होता है। उसमें अनेक उपदेशात्मक रूपक कथाएँ भी हैं। जो साधक को प्रेरणा एवं बल प्रदान करता है। उसके अतिरिक्त उपासक दशांग सूत्र एवं उत्तराध्ययन और नदीमूत्र में भी रोचक कथाएँ मिलती हैं। प्रस्तुत कथा तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थिति का ही निर्देश नहीं करती किन्तु तत् तत् परिस्थितिओं में साधक आत्मा को अपनी साधना में कैम स्थिर रहना चाहिए उसका स्पष्ट

निर्देश भी करती है. तत्पश्चात् आगम वाह्य ग्रंथों में तो अनेकानेक कथा ग्रंथों का निर्माण हुआ है. विशाल कथाएँ, संक्षिप्त कथाएँ, रूपक कथाएँ, आख्यानक, आदि का निर्माण हुआ है उन सबका विवरण देना संभव नहीं अतः कुछ महत्त्वपूर्ण कथा ग्रंथों का निर्देश ही पर्याप्त मान रहा हूँ. राम के विषय में भारत में अनेक कथाओं का निर्माण हुआ. न केवल वाल्मीकी की रामायण ही अपितु अनेक विभिन्न धर्मों में विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न भाषाओं में रामायण की रचना हुई है. इन सब उपलब्ध रामायण ग्रंथों में सबसे प्राचीन रामायण विमलसूरि की पउमचरिय है उसमें रामकी विस्तृत जीवनगाथा दी हुई है. जो प्रचलित रामायण से कई जगह भिन्न है उसका अध्ययन अत्यंत आवश्यक है. तत्पश्चात् भगदास गणि की वसुदेवहिंडी सुप्रसिद्ध है. वसुदेव की यात्रा प्रवासका वर्णन इसमें प्राप्त होता है. यात्रा प्रवास के दौरान प्राप्त कथाओं का एक विस्तृत

संग्रह इसमें है अनेक संत महात्माओं का जीवन वृत्त भी दिया गया है. जैन धर्म का ही नहीं किन्तु आर्य संस्कृतिका यह एक अणमाल ग्रंथ है. आचार्य हरिभद्रसूरि का सुप्रसिद्ध कथा-ग्रंथ ममराइच्छकहा वंसायनप्रेरक एवं संसार से विरक्ती पैदा कराने वाला श्रेष्ठ ग्रंथ है. जिसका देश विदेश की अनेक भाषाओं में अनुवाद हो चुका है. वंर और द्वेष की वृत्ति से जन्म जन्मान्तर में क्रम तरह पतन होता है उसका अद्भूत वर्णन किया गया है. धृतांख्यान भी हरिभद्रसूरिका प्रसिद्ध कथाग्रंथ है. दक्षिण्य चिन्त उद्योतनसूरि कृत कुवलवमाला भी अत्यन्त सुप्रसिद्ध कथा ग्रंथ है. जिसमें क्रोध, मान, माया, लोभ एवं मोह के दुष्परिणामों का वर्णन किया गया है. यह ग्रंथ भी भाषा एवं शैली के कारण ही श्रेष्ठ नहीं है अपितु मानव भावों का सहज निरूपण इसमें किया गया है और शुभ भावों से उत्पत्ति एवं अशुभ भावों से अवनति का वर्णन साधकको बल प्रदान करता है. इसी शृंखला में शीलाकाचार्य का चउपन्नमहापुरुष चरित्र, तिलकमंजरीकथा, भुवनमुदंग कथा, धनेश्वर मुनि विरचित सुरसुंदरी कथा, महसूरि रचित गीता चरित्र, भद्रश्रमसूरिकृत कहावली कथा, आख्यानक्रमणी कोश, विभिन्न तीर्थकर चरित्र, कुमारपाल चरित्र, पिरागवाल कथा, जम्बूसामी कथा, मनारमा कथा प्रमुख हैं. उपदेशमाला, मीलोवदस माला, धर्मपरीक्षा आदि ग्रंथों में भी अनेक कथाएँ मिलती हैं.

संस्कृत भाषा में भी अनेक कथा ग्रंथोंका निर्माण हुआ है. अनेक प्रबन्ध, महाकाव्य एवं कथाग्रंथों की रचना हुई है जिसमें कई कथाएँ तो विश्व प्रसिद्ध हैं यथा धनपाल विरचित तिलकमंजरी कथा, कलिकाल सर्वज्ञकृत त्रिपण्डिशलाका पुरुष कथा एवं परिशिष्ट पर्व आदि. उसके अतिरिक्त धर्मरत्न करंडक, कथा रत्नाकर आदि प्रमुख हैं.

जब लोकभाषा में संस्कृत एवं प्राकृत का प्रचलन लुप्त होता गया और उनका स्थान अपभ्रंश एवं क्षेत्रिय भाषाओं ने लिया तब जैन मनिषिओं ने सामान्य जनों को उपकारी कथा साहित्य का निर्माण लोकभाषा में शुरु कर दिया. उसमें राम, चौपाई, आख्यान, प्रमुख हैं. जैसे अंबडविद्याधर राम, आराम शोभा राम एवं चौपाई, मलतुंग मलवतीराम, नलदवदती राम, शकुंतला राम, शीलवती राम आदि अनेक राम प्राप्त होते हैं. आजभी अनेक राम केवल पांडुलिपिओं में हैं जिसका प्रकाशन होना शेष है.

इस प्रकार कथा साहित्य का प्रत्येक युग में विकास होता गया है. इस प्रकार जैन कथा साहित्य अत्यंत समृद्ध एवं श्रेष्ठ है.

पुत्र्य गच्छाधिपति आचार्यश्री केलारासगारसूरिजी ने इन कथाग्रंथों में से कुछ महत्त्वपूर्ण कथाओं का चयन करके कथार्णव नामक ग्रंथ प्रकाशित करवाया था. प्रस्तुत ग्रंथ संस्कृत भाषा में

VIII

होने से सामान्य जन को यह ग्रंथ अनुपादेय रहा इसलिए उनके मन में विचार उद्भावित हुआ कि प्रस्तुत ग्रंथ की कथाओं का गुजराती अनुवाद किया जाय तो सबको लाभ होगा। यह विचार उन्होंने कार्यान्वित किया और गुजराती अनुवाद का कार्य पंडित मफतलाल भाई गांधी को सौंपा गया। अनुवाद होता गया और प्रकाशित भी हो गया। अनुवाद का नाम जैन कथामागर रखा गया। इसमें १०१ कथाओं का समावेश किया गया है, जो श्राद्धविधि, श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्र, श्राद्धगुण विवरण, शीलोपदेशमाला, उपदेशमाला, धर्मकल्पद्रुम, त्रिपिठिशलाकापुरुष प्रस्तावशतक, कथारत्नाकर, परिशिष्ट पर्व आदि ग्रंथों से ली गई है।

इसमें लघुकथा एवं बृहद् कथा का भी समावेश किया गया है। इन कथाओं का मुख्य उद्देश जीवनमें दुर्गणों का नाश करके सद्गुणों को बढवा देना है। त्याग, विनय, विवक, वैराग्य, अहिंसा आदि का उदय हो और जीव धर्माभिमुख एवं आत्माभिमुख हों यही मुख्य भावना इन सभी कथाओं के पीछे है। इसमें यशोधर चरित्र, चंद्रराजा चरित्र, धर्मरुचि श्रेष्ठ, जिण्हा श्रेष्ठ, मानदेवसूरि रत्नाकरसूरि, भरतचक्रवर्ति, वाहुवलि, वंकचूल, हीलिका आदि की कथाएँ जीवन परिवर्तन के लिए महत्त्वपूर्ण संदेश दे रही हैं। इस तरह यहाँ प्रकाशित होने वाली सभी कथाएँ जीवन के विभिन्न पक्ष को स्पर्श करती हैं, जिस का अध्ययन जीव को आत्मिक बल प्रदान करती है। अतः अवश्य पठनीय एवं मननीय ग्रंथ है।

१९५३ में जैनकथा सागर का तृतीय भाग प्रकाशित हुआ तब पं. श्री शिवानन्दविजयजी गणि ने प्राक्कथन में लिखा है कि "जैन कथासागर गुजरात में तो बहुत ही पढ़ा जाना है एवं समाज भी उसका पर्याप्त लाभ उठा रहा है। तथापि जैन कथासागर के प्रेरक एवं लेखकों को महत्त्वपूर्ण नम्र निवेदन है कि आज हिन्दी भाषा राष्ट्र भाषा एवं सर्वमान्य भाषा होने से इसका हिन्दी भाषा में अनुवाद प्रगट हो तो मारवाड़, मेवाड़, मध्यभारत आदि में रहने वाले जैन भाईओं को बहुत ही लाभ होगा, जो इन ग्रंथों से लाभान्वित होंगे उसकी धर्मभावना दृढ़ होगी और जैन शासन की प्रभावना होगी।" पचास साल पूर्व हिन्दी अनुवादकी भावना की गई थी आज उक्त भावना परिपूर्ण हो रही है। यह अतीव आनंद एवं हर्ष की बात है।

शासन प्रभावक आचार्य श्री पद्मसागरसूरीश्वरजी म. सा. के आशीर्वाद से एवं गणिवर्य श्री अरुणोदयसागरजी म. सा. की सत्प्रेरणा से इस ग्रंथ का सरल एवं भाववाही अनुवाद किया गया है। साध्वीजी शुभ्राननाश्रीजी म. (गणिवर्य श्री अरुणोदयसागरजी म. की मांसारीक छांटी बहन) ने इस ग्रंथ का सुंदर संपादन कर कथाओं की प्रस्तुती को सरल एवं रोचक बनाया है, जो आज के युग में बहुत ही उपादेय सिद्ध होगा। पूज्य गणिवर्य श्री के अंतर में भी यही भावना घुमरा रही थी कि प्रस्तुत ग्रंथ की कथाएँ जीवन में आमूल परिवर्तन लाने वाली अद्भुत धर्म कथाएँ हैं जिसका लाभ गुजरात वाह्य प्रदेश के हिन्दी भाषी श्रावक एवं गृहस्थों को मिले तो कल्याण हो सकता है अतः इस ग्रंथ का अनुवाद करवाकर प्रकाशित करवाया है, जिसके लिए पूज्य गणिवर्य श्री को बहुत-बहुत धन्यवाद, कथासागर के शेष भाग एवं अन्य ऐसे अनेक ग्रंथ हैं जिसका हिन्दी अनुवाद आवश्यक है। पूज्य गणिवर्य श्री भविष्य में भी प्रस्तुत कार्य की परंपरा चालू रखें यही शुभ भावना।

अन्त में श्री अरुणोदय फाउन्डेशन एवं उसके अभ्यासीओं को भी धन्यवाद, जो इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण कार्य में संपूर्ण सहयोग प्रदान कर रहे हैं।



अनुक्रमणिका

कथा-क्रम	पृष्ठ-संख्या	
२३.	महाराजा मेघरथ का दृष्टांत	१
२४.	स्कन्दकसूरि का चरित्र	६
२५.	गजसुकुमाल मुनि	१३
२६.	चन्दन मलयागिरि	२०
२७.	चक्रवर्ती भरत	२८
२८.	विष्णुकुमार मुनि	४०
२९.	वंकचूल की कथा	४५
३०.	सूर एवं सोम का वृत्तांत	५५
३१.	विसेमिरा की कथा	५९
३२.	विजयशेट की कथा	६५
३३.	धनश्री की कथा	६८
३४.	चन्द्रराजा का संयम	७०
३५.	शांतु मंत्री का वृत्तांत	७१
३६.	यशोधर राजा (प्रथम भव)	८६
३७.	दुःख की परम्परा (भव २, ३, ४)	९७
३८.	माता-पिता का वध (भव ५, ६)	१०१
३९.	काल दण्ड (भव-७)	१०५
४०.	आत्मकथा की पूर्णाहूति (भव ८, ९, १०)	१११



(२३)

सत्य अर्थात् महाराजा मेघरथ का दृष्टांत

(१)

भगवान् शान्तिनाथ के दसवें भव की यह बात है। समकित प्राप्त करने के पश्चात् के भवों की गिनती होती है तदनुसार शान्तिनाथ भगवान् के जीव ने प्रथम श्रीषेण के भव में समकित प्राप्त किया था।

(२)

पुण्डरीकिणी नगर के राजा धनरथ के दो रानियाँ - प्रियमती एवं मनोरमा थीं। यों वे दोनों सौत थी परन्तु उनका प्रेम दो सगी बहनों जैसा था। समय व्यतीत होते वे दोनों गर्भवती हुईं और दोनों के पुत्र हुए।

राजा ने प्रियमती के पुत्र का नाम मेघरथ और मनोरमा के पुत्र का नाम दृढरथ रखा। मेघरथ एवं दृढरथ का प्रेम बलराम-वासुदेव जैसा था। वे एक दूसरे से अलग नहीं होते थे। कुछ समय के पश्चात् धनरथ राजा ने संयम लिया और सम्पूर्ण राज्य का उत्तरदायित्व मेघरथ को सौंप दिया। ये धनरथ जिनेश्वर भगवान् बने।

मेघरथ का राज्य अत्यन्त विस्तृत था। उनकी ऋद्धि-सिद्धि का पार नहीं था। देवाङ्गनाओं के समान रानियाँ उनके अन्तःपुर में थीं। मेघरथ को किसी प्रकार का अभाव नहीं था, फिर भी उसे न तो राज्य पर प्रेम था, न रानियों पर और न ही संसार के रागरंग पर!

मेघरथ की राज्यसभा अर्थात् धर्मसभा। वहाँ नित्य पुण्य-पाप के भेद खोले जाते, कर्मों के सम्बन्ध का विचार होता और पूर्व जन्म के संस्कारों की अनिवार्यता समझाई जाती थी।

मेघरथ ने ऐसा प्रभाव डाला था कि राज्य-सभा में तो राजा एकत्रित होते थे परन्तु मेघरथ पौषध लेते वहाँ भी राजाओं की भीड़ रहती, सामन्तों की भीड़ रहती। वे भी सब मेघरथ के पास पौषध करते और उनकी वाणी श्रवण करते।

(३)

‘मेरी रक्षा करो, मेरी रक्षा करो’ कहता हो उस प्रकार एक कबूतर जब राजा पौषध लेकर दूसरों को उपदेश दे रहे थे उस समय उनकी गोद में आकर गिरा।

राजा कुछ विचार करे उससे पूर्व तो पंख फड़फड़ाता हुआ एक विशाल बाज वहाँ आया और बोला, ‘राजा तू कबूतर मुझे दे दे, यह मेरा भक्ष्य है, मैं भूखा हूँ।’

भय से काँपता हुआ कबूतर बोला, ‘राजन्! मुझे बचाओ, मुझे यह मार डालेगा। मैं आपकी शरण में आया हूँ।’

राजा खड़ा हुआ। उसने बाज (श्येन) को कहा, ‘पक्षीराज! कबूतर सीधा और सरल प्राणी है। वह मेरी शरण में आया है। मैं क्षत्रिय होकर शरणागत को कैसे सौंप सकता हूँ? मैं कदापि नहीं सौंपूँगा।’

मुस्कराता हुआ बाज मानव-भाषा में बोला, ‘राजन्! भूख से मेरे प्राण निकल रहे हैं। कठिन परिश्रम से मुझे यह कबूतर प्राप्त हुआ है। एक को बचा कर दूसरे का संहार करने में क्या धर्म है? मेरा भक्ष्य मुझे लौटा दो।’

बाज! मैं तुझे भूखा मारना नहीं चाहता। मेरे राज्य में खाद्य-सामग्री का अभाव नहीं है। तू जो माँगे वह खाद्य-सामग्री मैं तुझे देने के लिए तत्पर हूँ। घेवर, लापसी, लड्डू जो चाहिये वह और जितना चाहिये उतना दूँगा।’ राजा ने खाद्य-सामग्री मंगवाने की तत्परता से कहा।

‘राजन्! मेरे जैसा वन-वासी श्येन पक्षी ऐसा आहार नहीं करता। मेरा भोजन तो माँस है और वह भी मेरे सामने काट कर दिया जाये वही माँस मुझे चाहिये।’ राजा के उत्तराभिलाषी बाज ने कहा।

राजा ने कहा, ‘विहंगराज! यह तो अति उत्तम। मैं अपनी देह में से कबूतर के तौल के बराबर माँस काट कर तुझे दूँ तो चलेगा न?’

पक्षी बोला, ‘अवश्य चलेगा, परन्तु हे मुग्ध नृप! पक्षी के लिए हजारों का पालक तू क्यों अपना जीवन दाव पर लगाता है?’

‘विहंगराज! यह जीवन किसका शाश्वत रहा है? आज नहीं तो कल देह तो जायेगी ही। मैं मानव भव में शरणागत का घातक कहलाऊँ यह उचित है अथवा शरणागत के लिए मैं अपना जीवन अर्पित करूँ यह उचित है?’

राजा ने सेवकों को आज्ञा दी और तराजू मँगवाया। एक पलड़े में काँपता हुआ कबूतर रखा और दूसरे पलड़े में अपनी जाँघ काट कर माँस के टुकड़े रखे।

भाई सुत रानी वलवले हाथ झाली कहे तेह धर्मी राजा एक पारेवा ने कारणे शुं कापो छो देह?

समस्त परिवार एवं साथ खड़े हुए सभी लोग रो पड़े और राजा को कहने लगे, 'राजन्! आप अपना विचार क्यों नहीं करते? आपके द्वारा हजारों का पालन होता है वह सोचो। आप एक कबूतर को बचाने में प्राण खोओगे तो हमारे जैसे हजारों लोग बरबाद हो जायेंगे, बे-मौत मारे जाएँगे।'

'आप घबरायें नहीं, और मुझे अपने कर्तव्य से भ्रष्ट न करें। जो व्यक्ति एक शरणागत पक्षी की रक्षा नहीं कर सकता वह हजारों मनुष्यों की रक्षा कैसे कर सकेगा?' राजा ने दृढ़ता पूर्वक कहा।

इतने में बाज बोला, 'राजन्! तत्त्वों की चर्चा करना छोड़ो, मेरे प्राण निकल रहे हैं। मेरा शीघ्र न्याय करो। मुझे कबूतर के तोल के बराबर माँस दो।'

राजा ने तीव्रता से चाकू चलाया। दूसरी जाँघ चीर कर माँस के टुकड़े तराजू में रखे, परन्तु पलड़ा तो झुका ही नहीं, ज्यों का त्यों रहा।

ऐसा क्यों हुआ इसके लिए राजा को आश्चर्य हुआ परन्तु उसका अधिक विचार न करके वह तुरन्त खड़ा हो गया और स्वयं जाकर पलड़े में बैठ गया।

महाजन आदि सब राजा को रोकने लगे कि 'महाराज! आप ऐसा न करें।'

मंत्री एवं प्रजाजनों ने कहा, 'राजन्! आप यह क्या कर रहे हैं? एक पक्षी के लिए आप अपनी पूरी देह समर्पित कर रहे हैं? कह कर मुँह में अंगली दबा कर वे आश्चर्य चकित होकर रोने लगे। परन्तु राजा का तो एक ही उत्तर था, 'शरणागत की रक्षा में पीछे नहीं हटा जा सकता।'

बाज बोला, 'राजन्! मुझे तेरी देह की आवश्यकता नहीं है। मुझे तेरे राज्य एवं परिवार को बर्बाद नहीं करना है। मैं तो माँग रहा हूँ केवल मेरा भक्ष्य यह कबूतर। यदि यह तेरे पास नहीं आया होता तो तू थोड़े ही इसकी रक्षा करता?'

राजा ने कहा, 'विहंगराज! शरणागत की रक्षा मुझे अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय है। मेरी देह से उसकी रक्षा होती हो तो तुम इस देह को काटकर कबूतर की रक्षा होने दो।'

इतने में आकाश में से पुष्प-वृष्टि हुई - 'महाराज मेघरथ की जय, महाराज मेघरथ की जय' पुकारती हुई एक दिव्य आकृति प्रकट हुई।

राजा समझ गया कि यह कोई देव है परन्तु वह कुछ कहे उससे पूर्व ही वह आकृति स्वयं बोली - 'महाराज! मैं ईशान देवलोक का सरूप नामक देव हूँ। एक बार ईशानेन्द्र ने आपकी प्रशंसा की कि 'वाह! क्या मेघरथ राजा का सत्त्व है!' मुझे उस सम्बन्ध में शंका हुई और मैंने बाज एवं कबूतर में अधिष्ठित होकर तेरी परीक्षा ली। राजन्! क्या बताऊँ? इन्द्र ने प्रशंसा की उससे भी तू सवा गुना सत्त्वशाली है।

राजा ने अपनी जाँघों एवं देह की ओर दृष्टि डाली तो वहाँ न तो घाव थे और

न रक्त के चिह्न ही थे।

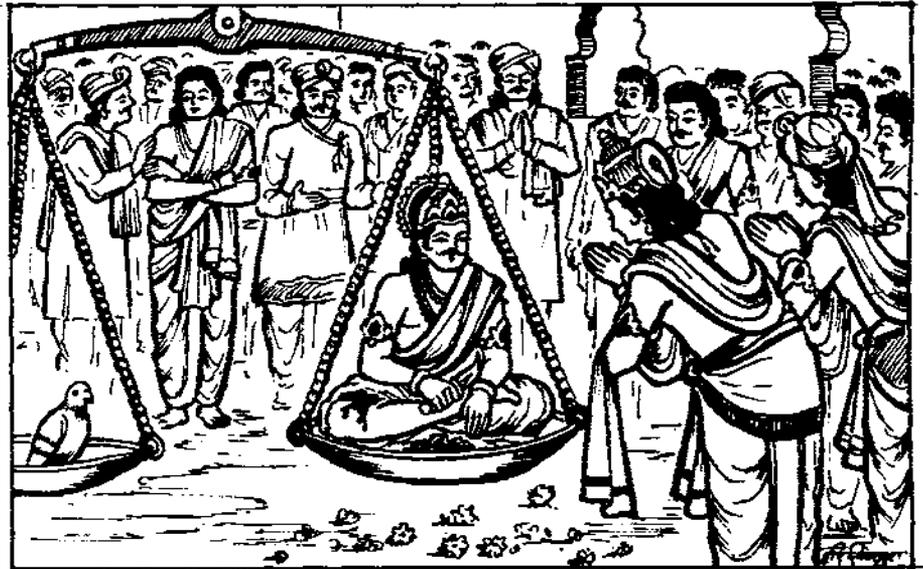
राजा एवं प्रजा सब समझ गये कि यह तो देव ने मेघरथ राजा की परीक्षा ली थी।

(४)

ईशान देवलोक का देवेन्द्र देवलोक के गान-तान में तन्मय था। इन्द्राणियों उसे चारों ओर से घेरे हुए थीं। अनेक इन्द्राणिया हाव-भावों के द्वारा इन्द्र को प्रसन्न कर रहीं थीं। इतने में इन्द्र खड़ा हुआ और 'नमो भगवते तुभ्यं' 'हे भगवान्! आपको नमस्कार है' - यह कह कर उसने प्रणाम किया।

देवाङ्गनाओं को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। गान-तान बन्द कर दिया और वे सब कहने लगी, 'नाथ! आपने किसको प्रणाम किया?

इन्द्र ने कहा, 'देवियो! मैंने महात्मा मेघरथ को नमस्कार किया। क्या उसका सत्त्व और क्या उसकी अटलता? इतनी-इतनी ऋद्धि, वैभव एवं स्त्रियाँ तो भी वह पौषध करता है और कायोत्सर्ग के द्वारा देह का दमन करता है। मैं तुम्हारे कटाक्षों एवं हाव-भावों में लुब्ध हूँ जबकि वह लोकोत्तर जीवन जी रहा है। मैं पामर उन महात्मा को नमन न करूँ तो अन्य किसको नमन करूँ? जिसको देव, देवाङ्गनाएँ एवं इन्द्र भी अपने ध्यान में से विचलित नहीं कर सकते ऐसा उसका सत्त्व है।' तत्पश्चात् देवाङ्गनाओं एवं इन्द्र के परिवार ने भी 'नमो भगवते तुभ्यं' कह कर नमस्कार किया।



आकाश में पुष्प वृष्टि के साथ 'जय हो महाराज मेघरथ की' इस तरह
पुकारती एक दिव्य आकृति प्रगट हुई.

इतना सब होने पर भी दो देवियों को अपने रूप एवं चातुर्य पर गर्व था। वे मेघरथ के पास आईं। उन्होंने अनेक प्रकार के नृत्य आदि किये, अनेक प्रकार के हाव-भावों के द्वारा उन्होंने अपने अंगों का संचालन किया। देवियों ने समझा कि हमारे चातुर्य से पत्थर भी पिघल जाते हैं, तो इस मानव की क्या बिसात? रातभर वे देवाङ्गनाएँ प्रयत्न करती रहीं परन्तु मेघरथ ने आँख तक नहीं खोली और न उसकी देह में तनिक भी विकार उत्पन्न हुआ।

देवियाँ पराजित हो गईं और पुनः 'नमो तुभ्यं' कह कर देवलोक में चलीं गईं और जाकर इन्द्र को कहा, 'स्वामी! आपने कहा था उससे सवा गुना सत्त्व हमने मेघरथ की परीक्षा लेकर प्रत्यक्ष में जाना है।

(५)

तप से शोषित मेघरथ ने एक बार सुना कि 'धनरथ भगवन् का परिसीमा में आगमन हुआ है। मेघरथ सपरिवार भगवन् के पास गया। देशना श्रवण करके भाई को राज्य सौंप कर संयम ग्रहण किया और ऐसे संयम का पालन किया कि मृत्यु के पश्चात् सीधे सर्वार्थ सिद्ध अनुत्तर विमान में गये।

.(त्रिपञ्चिन्नाका पुरुषधरित्र से)



देवाङ्गनाएँ रातभर प्रयत्न करती रही लेकिन मेघरथ के मन में
जरासी भी विषय वासना प्रगट करा न सकी.

(२४)

क्षमा की प्रतिमूर्ति

स्कन्दकसूरि का चरित्र

(१)

मुनिसुव्रत स्वामी भगवान के समय की यह कथा है। स्कन्दक एवं पुरन्दरयशा यह भाई-बहन की जोड़ी थी। उनमें परस्पर अपार प्रेम था।

श्रावस्ती नगरी के नृप जितशत्रु एवं रानी धारिणी इन पुत्र-पुत्री से अत्यन्त सन्तुष्ट थे, फिर भी उन्हें एक ही चिन्ता रहा करती थी कि पुरन्दरयशा चाहे कुछ भी हो फिर भी पर-घर की लक्ष्मी है। कभी न कभी उसका विवाह तो करना ही पड़ेगा, परन्तु स्कन्दक तो उससे तनिक भी दूर नहीं रहता और जब वह उसे नहीं देखता तो आधा हो जाता है, बेचैन हो जाता है। मुझे पुरन्दरयशा की अपेक्षा स्कन्दक की अधिक चिन्ता होती है कि जब पुरन्दरयशा ससुराल जायेगी तब इसका क्या होगा?’

समय व्यतीत होता रहा। पुरन्दरयशा ने यौवन में प्रवेश किया। स्कन्दक के प्रति चाहे जितना भ्रातृ-प्रेम था फिर भी कुम्भकार नगर के राजा दण्डकाग्नि का संग उसे अधिक प्रिय लगा और उसके साथ विवाह करके वह ससुराल गई।

स्कन्दक ने समझदार, सरल एवं धर्म का रागी होने के कारण पुरन्दरयशा से अपना चित्त हटाया और उसे धर्म-मार्ग में लगाया।

स्कन्दक को पुरन्दरयशा का संग छोड़ने के पश्चात् अन्य संग की आवश्यकता नहीं थी। उसने धर्म-ग्रन्थों का पठन प्रारम्भ किया और घण्टों तक वह तत्त्व-गवेषणा में निमग्न रहने लगा।

(२)

एक बार राजा जितशत्रु एवं राजकुमार स्कन्दक दरबार में बैठे हुए थे। वहाँ राजा दण्डकाग्नि का पुरोहित पालक आया। राजा ने दामाद के पुरोहित का सम्मान करके उसे उचित आसन दिया।

पालक वेदों एवं स्मृतियों का श्रेष्ठ विद्वान् था, फिरभी जैन धर्म के प्रति उसे द्वेष था। उसने बात ही बात में जैन धर्म की स्तान नहीं करने आदि की रीतियों का वर्णन

करके, निन्दा की। श्री स्कन्दक कुमार ने समस्त तर्कों का उत्तर देकर उसे निरुत्तर कर दिया।

पालक को राज्य-सभा में अपना अपमान दुःखद प्रतीत हुआ परन्तु वहाँ वह करता भी क्या?

(३)

राजकुमार स्कन्दक ने पालक के साथ धर्म की चर्चा बहुत की परन्तु उसे विचार हुआ कि 'वह ज्ञान किस प्रयोजन का जो हमारा उद्धार न कर सके? मैं जैन धर्म के संयम की अद्भुत बातें भले ही करूँ परन्तु यदि मैं संयम का पालन न करूँ तो उसका क्या प्रभाव होगा? राजमहल में रह कर सदा भोगों में लीन रहने से थोड़े ही विरति-सुख प्राप्त होता है? विरति-सुख तो नंगे सिर, नंगे पैर पाद-विहार करने वाले मुनि ही प्राप्त कर सकते हैं।'

अत्यन्त उग्र पाप अथवा पुण्य संकल्प का तुरन्त फल प्राप्त होता है - इस प्रकार स्कन्दक यह विचार कर रहा था कि वन-पालक ने समाचार दिया, 'राजकुमार! जगतीतल को पावन करते हुए श्री मुनिसुब्रत स्वामी का उद्यान में पदार्पण हुआ है।'

राजकुमार को अत्यन्त हर्ष हुआ और वे सपरिवार भगवान को वन्दन करने के लिए उद्यान में आये।

जिनेश्वर भगवान की देशना अर्थात् त्रिकालदर्शी भगवान की वाणी। वे तो सबकी विचारधारा से अवगत होते हैं। उन्होंने तुरन्त स्कन्दक के परिणाम जान लिये और देशना में कहा, 'कल्याण के दो मार्ग हैं - साधुधर्म और श्रावकधर्म। पुरुष-सिंहों का मार्ग प्रथम साधु-मार्ग है।'

स्कन्दक के हृदय में भावना तो पूर्व से ही थी। अतः उसको उसमें भीगने में समय नहीं लगा। उसने माता-पिता से संयम ग्रहण करने की अनुमति माँगी। माता-पिता ने उसे कहा, 'तु हमारा इकलौता पुत्र है। इस विशाल राज्य, इस वैभव और समस्त सुख का केन्द्र-बिन्दु तू ही है।'

स्कन्दक कुमार भव से भयभीत था। उसे तो संसार में व्यतीत होने वाला अमूल्य क्षण मिट्टी में मिलता प्रतीत हो रहा था। वह भगवान की शरण में पहुँचा और उसने अपने पाँच सौ मित्रों के साथ दीक्षा ग्रहण की। ये पाँचसौ मित्र स्कन्दक के शिष्य बने।

स्कन्दक अणगार भगवान् के साथ पाँचसौ शिष्यों सहित तप, जप, ज्ञान रूप संयम में भावित होकर धरा पर विचरने लगा। कुछ समय के पश्चात् भगवान् मुनिसुब्रत

स्वामी ने स्कन्दक मुनि को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया। स्कन्दक मुनि स्कन्दकसूरि बन गये।

(४)

एक वार स्कन्दकसूरि भगवान के समक्ष आकर बोले, 'प्रभु! मेरे पुरन्दरयशा नामक एक बहन थी। उसे मेरे प्रति अगाध प्रेम था। मैं दीक्षित होकर आचार्य बन गया हूँ फिर भी उस बहन को हृदय से भुला नहीं सका। मेरी इच्छा उसके पास जाने की है। वह मेरा संयम देख कर मेरी ओर प्रेरित होगी और उसका पति जो कुल-परम्परा के अनुसार मिथ्यात्वी है, वह भी मिथ्यात्व से हट सकता है।'

भगवान तो महा ज्ञानी थे। उन्होंने भविष्य जान लिया और कहा, 'जाना हो तो जाओ परन्तु तुम्हें वहाँ मरणान्त उपसर्गों का सामना करना पड़ेगा।'

स्कन्दकसूरि मूल से तो क्षत्री-पुत्र थे, अतः वे तुरन्त सावधान होकर बोले, 'भगवन्! मरणान्त उपसर्ग! सर्वोत्तम; परन्तु भगवन् हम आराधक रहेंगे अथवा विराधक बनेंगे?'

'स्कन्दक! सब आराधक होंगे परन्तु तू आराधक नहीं रहेगा।' स्कन्दक का क्षत्री-तेज झलक उठा। भगवान की स्वीकृति न होने पर भी अपने सत्त्व की परीक्षा करने की उनकी इच्छा हुई और किसी भी तरह मरणान्त उपसर्ग सहन करके आराधक बनने की उनमें दृढ़ता जाग्रत हुई।

स्कन्दक ने निश्चय पूर्वक भगवान को पूछा, 'प्रभु! मेरे एक के अतिरिक्त सबका तो कल्याण होगा ही न?'

'अवश्य।'

'भगवन्! तो मैं वहाँ जाकर पाँच सौ के आराधक होने में निमित्त क्यों न बनूँ?' भगवान मौन रहे।

(५)

पालक पुरोहित ने लोगों से सुना कि स्कन्दसूरि पाँचसौ मुनियों के साथ कुम्भकार नगर में आ रहे हैं। सम्पूर्ण नगर अत्यन्त प्रसन्न था और सभी आचार्यश्री के दर्शन के लिए तरस रहे थे, परन्तु केवल पालक ईर्ष्या की आग में जल रहा था। वह स्कन्दक द्वारा किये गये अपमान का बदला लेने का विचार करने लगा। टेढ़ी-मेढ़ी युक्तियों का विचार करने के पश्चात् उसने एक युक्ति खोज निकाली और वह हर्ष के मारे नाच उठा।

इतने में वनपालक ने आकर राजा को वधाई दी कि 'भगवन्! पाँचसौ शिष्यों के साथ स्कन्दकसूरि का पदार्पण हुआ है।'

यह सुनकर राजा, रानी और सम्पूर्ण नगर आचार्य भगवन् के दर्शन के लिए उमड़ पड़ा। सूरिवर ने संसार की असारता समझाई एवं संसार की सम्पत्ति को धुँए की मुट्टी जैसी बताया। पुरन्दरयशा को अपार हर्ष हुआ। वह मन ही मन बोली - 'बंधु राजराजेश्वर बनते तो इस समय महामुनीश्वर बन कर जो आत्मिक वैभव का अनुभव कर रहे हैं वह थोड़े ही अनुभव कर पाते?' सूरेश्वर की देशना में अनेक भव्य आत्माओं ने अनेक प्रकार के छोटे-बड़े व्रत लिये और जैन धर्म की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

(६)

राजा ने विचार-मग्न पालक को पूछा, 'पालक! सम्पूर्ण नगर में सभी के आनन्द का पार नहीं है और तुम क्यों विचार मग्न हो?'

पालक बोला, 'महाराज! लोगों की तो भेड़ चाल है। उन्हें सत्य-असत्य की थोड़े ही खबर है कि इसमें तत्त्व क्या है?'

'पाँचसौ शिष्यों के साथ सूरि के आगमन में तुम्हें कोई कुशंका प्रतीत होती है?' राजा ने आश्चर्य एवं अन्यमनस्कता से कहा।

'राजन्! आप भद्र हैं, आप सबको शुद्ध एवं सरल ही मानते हैं। मुझे तो आपके राज्य की अपार चिन्ता रहती है, अतः मैंने इसकी पूर्णतः जाँच की तो पता लगा कि स्कन्दक ने दीक्षा ग्रहण तो कर ली, परन्तु वह उसका पालन नहीं कर सका। वह संयम से तंग आ गया है। उसने प्रारम्भ में तो वेष उतार कर पुनः घर जाने का विचार किया था परन्तु लज्जावश वह नहीं गया और यहाँ पाँचसौ सैनिकों को लेकर आया है।'

'स्कन्दसूरि के साथ पाँच सौ मुनि सैनिक हैं, यह तुझे कैसे ज्ञात हुआ? राजा ने शीघ्रता से पूछा।

'महाराज! इसका दार्शनिक प्रमाण यह है कि जहाँ वे ठहरे हैं वहाँ भूमि में उन्होंने अपना शस्त्र-भण्डार छिपाया है। आपको यदि मेरी बात पर विश्वास न हो तो गुप्तचरों से आप जाँच करा लें।'

राजा को यह बात विश्वास करने योग्य प्रतीत नहीं हुई, फिर भी उसने गुप्तचरों को यह कार्य सौंप दिया।

उन्होंने गुप्त रूप से जाँच की और रात्रि में आकर राजा को कहा, 'महाराज! मुनियों के आवास के नीचे बड़े शस्त्र-भण्डार हैं; देखिये ये रहे कुछ नमूने।'

राजा भड़क उठा। उसने तुरन्त पुरोहित को बुलवा कर कहा, 'पुरोहित! तुम्हारे कथनानुसार वहाँ शस्त्र पाये गये। साधु का वेष लेकर क्या उन्होंने पाखण्ड जमाया है? तुम्हें जैसा उचित प्रतीत हो वैसा कठोर दण्ड दें और एक-एक का वध कर डालें।'

पुरोहित मुस्कराया और मन में बोला, 'मेरी युक्ति कारगर हुई। स्कन्दक के आवास के नीचे मेरे द्वारा खड्डों में रखवाए गए शस्त्रों ने मेरे अपमान का पूरा बदला ले लिया।'

(७)

प्रातःकाल के समय पालक पुरोहित उद्यान में आया और बोला, 'क्यों महाराज! मुझे पहचानते हैं न? मैं पालक हूँ।'

सूरि ने पहचान कर सिर हिलाया। इतने में वह आगे बोला, 'श्रावस्ती में आपने मेरा अपमान किया था, मैं उसका बदला लेना चाहता हूँ। आप किसी को भी छोड़ने वाला नहीं हूँ। सबको उल्टे कोल्हू में पेलूँगा।'

सूरिवर को भगवान के वचन का स्मरण हुआ। वे अधिक स्थिर हुए और मरणान्त उपसर्ग सहन करने के लिए अपने सत्त्व को उत्तेजित करके बोले, 'महानुभाव! हम मुनियों के लिए जीवन एवं मृत्यु समान हैं।'

'महाराज! कोल्हू में पेले जाओगे तब सच्चा पता लगेगा।' कह कर हर्ष-विभोर पालक ने चाण्डाल को बुला कर आदेश दिया, 'इन्हें एक-एक को पकड़ कर कोल्हू में डाल कर पेलो।'

स्कन्दकसूरि ने प्रत्येक शिष्य को कहा, 'मुनिवरो! क्षमा में चित्त लगाना। मरणान्त उपसर्ग सहन करने वाला व्यक्ति यदि चित्त शान्त रखे तो केवलज्ञान प्राप्त करता है। ऐसा उपसर्ग करने वाला हमारा शत्रु नहीं, उपकारी है, सबने आहार-पानी बोंसिराये, पंच महाव्रतों का स्मरण किया और बारह भावनाएँ मन में लाई।'

पालक ने सोचा कि पहले स्कन्दक (खन्दक) को पेलूँ अथवा उसके शिष्यों को? पल भर सोच कर वह बोला 'स्कन्दक को अन्त में; सबको उसके समक्ष पेल कर अपने अपमान का बदला लूँ और अन्त में उसे जीवित पेलूँ।'

स्कन्दकसूरि मौन रहे। उनका चित्त पालक पर नहीं रूठा। उनके मन में एक ही वाणी गुँज उठी, 'स्कन्दक! सब आराधक परन्तु तू विराधक।' कहीं मैं विराधक न बनूँ उसके लिए उसने मन पर अत्यन्त नियन्त्रण रखा और प्रत्येक मुनि से कहा, 'आत्मा एवं देह भिन्न है। देह का नाश भले ही पालक करे, परन्तु वह तुम्हारी आत्मा का नाश नहीं कर सकेगा। तुम समाधि रखना।' इस प्रकार सबसे देह के प्रति ममत्वभाव का

त्याग करा कर उन्होंने संकल्प कराया।

चार सौ निन्नाणवे साधु पेल दिये गये। केवल एक बाल-साधु शेष रहा। स्कन्दक ने पालक को कहा, 'पालक! अब तू मुझे पेल और तत्पश्चात् इस बाल-साधु को पेलना क्योंकि मुझसे इसका पेला जाना देखा नहीं जा सकेगा।'

पालक को तो स्कन्दकसूरि की आँखें जो न देख सके वही करना था। उसने बाल-साधु को कोल्हू में डाला। क्षमाशील बाल-साधु ने मन को तो अत्यन्त नियन्त्रण में रखा, परन्तु देह से जो चीख अथवा रुदन निकलता उसे दबा नहीं सका।

चार सौ निन्नाणवे मुनि पले गये।

और समाधिभाव से वे सब केवली बने।

चार सौ निन्नाणवे मुनियों ने आत्म-कल्याण किया, परन्तु बाल-मुनि को पेला जाता देखकर स्कन्दक के धैर्य का वाँध टूट गया। उन्होंने संकल्प किया, 'भले मैं मर जाऊँ परन्तु यदि मेरे तप एवं संयम का फल ही तो मैं इस पुरोहित, राजा एवं नगर का नाश करूँ।'

देखिये, पुरोहित रूठा, परन्तु राजा अथवा नागरिकों को इससे किसी को कुछ सम्बन्ध नहीं था। स्कन्दक पले गये, सब आराधक वन कर मोक्ष में गये परन्तु वे स्वयं विराधक वन कर अन्निकुमार बने और भगवान का कथन सत्य ठहरा।

(८)

राजा-रानी झरोखे में बैठे थे जहाँ एक रक्त-रंजित रजोहरण आ गिरा। रानी ने उसे हाथ में लिया, जिसमें उसके स्वयं के हाथ की रत्न-कम्यल की ओटन थी। उस



आधा हाथ में लेकर रानी ने कहा : यह रजोहरण मेरे बांधव का है अरे! खून से छना हुआ यहाँ पर कैसे?

देख कर वह बोली, 'यह रजोहरण तो मेरे भाई का है, यह यहाँ कहाँ से आया? यह रक्त-रंजित क्यों है? राजाजी! आप जाँच करें। मेरे भाई का किसी ने वध तो नहीं किया? राजा का मुँह उतर गया। रानी को सब बात का पता लग गया और वह बोली, 'राजन्! आपने बिना सोचे-समझे मुनि का वध करवाकर अपने सम्पूर्ण राज्य को आपत्ति में डाला है। जिस राज्य में पाँच-पाँचसौ मुनियों की हत्या हो वह देश कदापि सुखी नहीं रह सकता। राजन्! आपको यह क्या सूझा?' इस प्रकार विलाप करती हुई पुरन्दरयशा को शासनदेवी ने उठाया और उसे भगवान मुनिसुव्रत स्वामी के पास रखा। उसने भगवान के कर-कमलों से दीक्षा अङ्गीकार की और आत्म-कल्याण किया।

स्कन्दक अग्निकुमार बना। उसे अपने पूर्व भव का स्मरण हुआ। उसने चारों ओर अग्नि की ज्वालाएँ उत्पन्न कीं और कल का कुम्भकार नगर दण्डकारण्य बन गया। आज भी वह दण्डकारण्य स्कन्दक के उन शिष्यों की क्षमा का आदर्श प्रस्तुत कर रहा है।

वध परिषह ऋषिये खम्या, गुरु खन्दक जेम ए।

शिवसुख चाही जो जंतुआ तव, करशे कोप न एम ए।।

विशेष - इस कथा में पालक को पुरोहित बताया गया है जबकि उपदेशमाला आदि में उसे मंत्री बताया है।

(ऋषिमंडलवृत्ति से)

(२५)

अडिग धैर्य के स्वामी अर्थात् गजसुकुमाल मुनि

(१)

कंस के वध के पश्चात् द्वारिका में आकर बसे हुए यादवों का सोलहों कलाओं में विकास हुआ, उन्होंने अपनी सम्पत्ति की अत्यन्त वृद्धि से और द्वारिका अलकापुरी से ईर्ष्या करने जैसी हो गई, परन्तु कुछ ही समय में जरासंध को इस बात का पता लग गया। उसने श्री कृष्ण एवं यादवों को झुकाने के लिए प्रयाण किया, परन्तु बीच में घमासान युद्ध हुआ। जरासंध मारा गया और श्रीकृष्ण वासुदेव बने।

श्री कृष्ण की तीनों खण्डों में अखण्ड आन थी। श्री नेमिनाथ भगवान जो उनसे अधिक शक्तिशाली एवं प्रतापी थे, वे कदाचित् उन्हें पराजित करके राज्य ले लेंगे - ऐसी श्री कृष्ण के मन में शंका थी, परन्तु नेमिनाथ के दीक्षा ग्रहण कर लेने से उक्त शंका भी निर्मूल हो गई थी।

द्वारिका में सर्वत्र शान्ति, प्रेम, आनन्द एवं सुख था। देवकी अपने पुत्र श्री कृष्ण को प्राप्त, यश एवं तेज से हर्षित होती और 'एकेनाऽपि सुपुत्रेण सिंही स्वपीति निर्भयम्' अर्थात् एक पुत्र से भी शेरनी निर्भीक होकर सोती है, इस प्रकार वह अपने मन में अनुभव करती थी।

(२)

मध्याह्न का समय था। सूर्य की किरणों द्वारिका के करोड़पतियों के महलों पर लगे स्वर्ण-कलशों में प्रतिबिम्बित होकर तेज में वृद्धि करके पृथ्वी को उष्णता प्रदान कर रही थीं। उस समय दो मुनि-युगल 'धर्मलाभ' कह कर देवकी के घर पर आये। देवकी ने खड़ी होकर उनका अभिवादन किया और उन्हें लड्डुओं की भिक्षा प्रदान की। मुनि-युगल भिक्षा लेकर चला गये, परन्तु उनके मुखारविन्द एवं कान्ति का देवकी बहुत समय तक स्मरण करते हुए स्तब्ध खड़ी रही। उनकी चाल एवं कान्ति श्री कृष्ण की चाल एवं कान्ति के समान प्रतीत हुई। श्री कृष्ण को देखकर जो वात्सल्य भाव देवकी में उत्पन्न होता, इन दोनों मुनियों को देखकर देवकी को वैसेही वात्सल्य भाव का अनुभव हुआ। कुछ समय तक वह विचार-मग्न रही और, उसकी इच्छा उन्हें यह

पूछने की हुई कि तुम किसके पुत्र हो? तुमने दीक्षा कब अङ्गीकार की? इतने में मुनि-युगल चला गया और देवकी खड़ी खड़ी उनका मार्ग देखती रही।

अभी अधिक समय व्यतीत नहीं हुआ था कि इतने में दूसरा मुनि-युगल 'धर्मलाभ' कह कर खड़ा रहा। देवकी को प्रतीत हुआ की कुछ समय पूर्व आये हुए मुनि ही पुनः आये हैं। उसने उन्हें लड्डुओं की भिक्षा प्रदान की परन्तु उसके मन में यह विचार घूमता रहा कि या तो मुनि मार्ग भूल गए हैं या गोचरी के अभाव में दूसरी बार आये हैं। इतनी बड़ी द्वारिका में साधुओं को दूसरी बार आना पड़े यह असम्भव है।

देवकी अपने मन में प्रथम बार उत्पन्न शंका के सम्बन्ध में प्रश्न पूछना चाहती थी परन्तु वह उन्हें यह प्रश्न पूछकर लज्जित हो इस कारण उसने प्रश्न पूछने का विचार त्याग दिया। मुनि भिक्षा ग्रहण कर चले गये, इतने में तीसरी बार फिर दो मुनि आये। देवकी धैर्य खो बैठी। उसने उन्हें लड्डुओं की भिक्षा दी परन्तु भिक्षा प्रदान करने के पश्चात् उन्हें पूछा, 'भगवन्! आप त्यागी मुनियों को भी तीन बार एक घर पर भिक्षार्थ आना पड़े वैसी स्थिति द्वारिका में देख कर मुझे अत्यन्त दुःख होता है। क्या द्वारिका के निवासियों में विवेक का अभाव हो गया है? त्यागी महात्माओं का सम्मान उनके आंगन, उठ गया है? महाराज! श्री कृष्ण की द्वारिका में क्या ऐसा होता है? अथवा आप कहीं मार्ग तो नहीं भूल गये?'

मुनि बोले, 'हम न तो मार्ग भूले हैं और न द्वारिका में त्यागियों के प्रति सम्मान



सतत तीसरी बार दो मुनियों के भिक्षा-आगमन से देवकी की धीरज खट गई
और वह लड्डु वहोराने के बाद बोली...

ही कम हुआ है। हम सुलसा श्राविका के छः पुत्र हैं। परम पावन नेमिनाथ भगवान का भदिलापुर में आगमन हुआ तब उनकी देशना श्रवण करके हम छः भाइयों ने दीक्षा अङ्गीकार की है। हमारे रूप एवं समान आकृति के कारण स्थान-स्थान पर ऐसा भ्रम होता है। यह आपके यहाँ प्रथम प्रसंग नहीं है। प्रथम एवं द्वितीय वार हम छः भाइयों में से अनिकयश, अनन्तसेन, हितशत्रु और अजितसेन आये होंगे। हम देवयश एवं शत्रुसेन हैं। समान आकृति एवं समान रूप के कारण तुमको भ्रान्ति हुई है कि हम तीन वार आये हैं। हम तो आपके यहाँ प्रथम वार आये हैं।'

मुनियुगल चला गया परन्तु देवकी का चित्त तो उनकी ओर से हटा ही नहीं। मुनियों की वाणी, चाल, कान्ति और स्वयं को हुए रोमाञ्च से देवकी को अव्यक्त वेदना होने लगी। उसे वर्षों पूर्व उत्पन्न हुए छः पुत्रों का स्मरण हुआ। कंस ने उनका वध कराया था यह सुन कर हृदय दहल उठा और उसे प्रतीत हुआ कि, 'मुनि भले कहें - हम सुलसा श्राविका के पुत्र हैं, परन्तु कहीं वे मेरे पुत्र तो नहीं है?'

(३)

देवकी को रात भर नींद नहीं आई। उसे कंस द्वारा अपने पुत्रों के वध करने की विश्व-विख्यात बात के प्रति अश्रद्धा हुई। प्रातः होने पर देवकी श्री नेमिनाथ भगवान के समवसरण में गई। देशना पूर्ण होने के पश्चात् उसने भगवान को पूछा, 'प्रभु! कल मेरे घर भिक्षार्थ आये मुनियों को देख कर मेरे मन में श्री कृष्ण के समान वात्सल्य क्यों उमड़ा? प्रभु! वे किसके पुत्र हैं?'

भगवान ने कहा, 'देवकी! ये छः पुत्र तेरे हैं। तेरे उन छःओं पुत्रों को हरिणगमेपी देव ने सुलसा को सौंपा था। सुलसा उनकी पालक-माता है और तू उनकी जननी है।'

देवकी का रोम-रोम पुलकित हो उठा। उसके स्तनों में से दूध की धारा छूटी। देवकी ने उनको वन्दन किया और रोते-रोते वह बोली - 'भगवान्! मुझे कोई दुःख नहीं है। दुःख केवल इतना ही है कि सात-सात पुत्रों की माता होते हुए भी मैं एक पुत्र को भी खिला नहीं सकी। इन छः पुत्रों का पालन-पोषण सुलसा ने किया और श्रीकृष्ण का पालन-पोषण यशोदा ने किया। मैं पुत्रवती होकर भी स्तन-पान कराये बिना रही।'

'देवकी! खेद मत कर। जगत् की समस्त वस्तुओं की प्राप्ति में और अप्राप्ति में पूर्व भव में किये गये कर्म कारणभूत होते हैं। तूने पूर्व भव में अपनी सौतन के सात रत्न चुराये थे। जब वह अत्यन्त रोई तब तूने उसे एक रत्न लौटाया था और छः रत्न को तूने छिपा दिये थे। तेरा वही कर्म इस भव में उदय हुआ, जिससे एक पुत्र तुझे तेरा वनकर प्राप्त हुआ और छः पुत्रों से तू वंचित रही।'

देवकी कर्म-विपाक का चिन्तन करती-करती अपने निवास पर गई परन्तु उसके

पश्चात्ताप का शमन नहीं हुआ। उसमें पुत्र की प्रबल लालसा जाग्रत हुई। उसे पुत्र के लालन-पालन से रहित जीवन निरर्थक प्रतीत हुआ। श्री कृष्ण ने हरिणगमेषी देव की आराधन की। देव ने उन्हें वरदान दिया और इस कारण देवकी ने जिस पुत्र को जन्म दिया उसका नाम पड़ा गजसुकुमाल।

(४)

देवकी ने गजसुकुमाल का मन भरकर लालन-पालन किया। वह उसे पल भर के लिए भी दूर नहीं करती थी। उसके लिए तो यह प्रथम और अन्तिम रत्न था। पक्षिणी वच्चों को चाहे जैसे लपेटती है, परन्तु पंख आते ही पक्षी थोड़े ही घोंसले में पड़े रहते हैं?

गजसुकुमाल युवा हुआ। उसने दो कुमारियों के साथ विवाह किया-एक द्रुम राजा की पुत्री प्रभावती के साथ और दूसरा सोमशर्मा द्राह्मण की पुत्री सोमा के साथ। दोनों पत्नियों का प्यार माता का दुलार एवं श्री कृष्ण की ममता होने पर भी गजसुकुमाल का चित्त वैराग्य एवं संयम की ओर जाने के लिए तरसता था। उसने अपना स्थान तो अपने छः ज्येष्ठ भ्राताओं के स्थान में ही निश्चित कर रखा था।

एक बार श्री नेमिनाथ भगवान सहस्रात्रवन में आये। गजसुकुमाल ने भगवान की देशना सुनी -

दिये देशना प्रभु नेमिजी रे, आ छे असार संसार।

एक घड़ी में उठ चले रे, कोई नहीं राखण हार ॥

विध विध करीने हुं कहुरे, सांभलो सह नरनार।

अन्ते कोई केहनुं नहीं रे, आखर धर्म आधार ॥

देशना सुनकर गजसुकुमाल का वैराग्य-अंकुर पल्लवित हो गया। उसने देवकी माता एवं श्रीकृष्ण से अनुमति माँगी। आँख से पल भर के लिए भी दूर नहीं रखे गए गजसुकुमाल को दीक्षा की अनुमति प्रदान करने में देवकी को अत्यन्त कठिनाई प्रतीत हुई, परन्तु उसके दृढ़ निश्चय के सामने देवकी को झुकना पड़ा। गजसुकुमाल दीक्षित हो गया और उसने भगवान के चरण-कमलों का आश्रय स्वीकार किया।

(५)

आज्ञा आपो जो नेमिजी रे लाल, काउसग कल्ले स्मशान रे।

मन थिर राखीश महाल्ले रे लाल, पामुं पद निर्वाण रे ॥

आज्ञा आपी नेमिजी रे लाल, आव्या जिहां स्मशान रे।

मन थिर राखी आपणुं रे लाल, धरवा लाग्या ध्यान रे ॥

सन्ध्या का समय था। सूर्यदेव क्षितिज में अस्त हो रहे थे। नंगे बदन कायोत्सर्ग ध्यान में एक युवा महा मुनि स्मशान में आत्मरमण में तन्मय थे। जगत् की नश्वरता एवं असारता को दर्शाने वाली, धौं-धौं कर जलने वाली चिताएँ उनके ध्यान में गति प्रदान कर रही थीं और क्रूर पक्षियों के स्वर उनके हृदय को दृढ़ कर रहे थे। इतने में वहाँ सोमशर्मा ब्राह्मण आया। यह सोमशर्मा गजसुकुमाल का ससुर था। उसने जब गजसुकुमाल को देखा तो उसके नेत्रों से अंगारे बरसने लगे। वह बोला, 'इसे मोक्ष की अभिलाषा थी, संयम की हठ थी और हृदय में त्याग की वाढ़ आ रही थी, तो मेरी पुत्री के साथ विवाह करने की क्या आवश्यकता थी? पतिविहीन बनी स्त्री का क्या होगा उसका विचार किये बिना ही निकल पड़े ऐसे ढोंगी को मैं अच्छी तरह दण्ड दूँगा।'

क्रोध की ज्वाला से धधकते सोमिल के हृदय को स्मशान के अंगारों ने अधिक प्रज्वलित किया। वह एक फूटे मटके का ठीब लाया और उसे उसने मुनि के सिर पर गारे से चिपका दिया। उसने उसमें ठसाठस अंगारे भर दिये और बोला, 'इसे मोक्ष में जाने की शीघ्रता है तो मैं इसे शीघ्र मोक्ष में भेज देता हूँ।' मुनि की देह जलने लगी। साथ ही साथ कर्म भी जलने लगे और मुनि ने विचार किया कि सोमशर्मा सचमुच मुझे मोक्ष-पगड़ी पहना रहे हैं।' इस मरणान्त उपसर्ग का गजसुकुमाल ने सुअवसर समझ कर स्वागत किया। अपना मन दृढ़ किया। देह एवं आत्मा के पृथक भाव का चिंतन किया। ठीब में भरे हुए अंगारों ने तुरंत लोच किये गजसुकुमाल के सिर की चमड़ी



सोमिल ने एक फूटे मटके की ठीब लेकर मुनि के सिर पर गारे से चिपका दिया और, ठसा ठस अंगारे भरकर गुस्से में बोला!...

तपा कर उसमें से माँस एवं रक्त की धाराएँ प्रवाहित की। वाल-मुनि गजसुकुमाल ने सोमशर्मा पर क्षमामृत की धारा प्रवाहित की। उन्होंने अन्तःकरण से सोमशर्मा का सत्कार किया और कहा, 'मरणान्त उपसर्ग करने वाले सोमशर्मा! तुम सचमुच मेरे सच्चे उपकारी हो। संयम की आराधना की दृढ़ता ऐसी परीक्षा के बिना थोड़े ही समझ में आती? हे चेतन! दृढ़ता रख, गर्भावास के अनन्त वार के दुःखों के सामने इस आग के एक समय के दुःख की क्या बिसात है?' मुनि ने मन सुदृढ़ किया। अंगारों ने देखते ही देखते सम्पूर्ण देह को जला डाला।

फट फट फूटें हाडकों रे लाल, टट-टट टूटे चाम रे।

सन्तोषी ससरो मल्यो रे लाल, तुरत सयुं तेनुं काम रे।।

मुनिवर ने मुँदे नेत्रों से, शान्त हृदय से असह्य एवं अपार वेदना सहन की। उन्होंने आत्म-रमण में अपने जीव को लगाया। शुक्ल ध्यान की धारा में अग्रसर होते हुए गजसुकुमाल ने उसी रात्रि में इस ओर तो केवलज्ञान प्राप्त किया और दूसरी ओर नश्वर देह का त्याग करके उनकी अमर आत्मा अमरधाम मुक्ति-निलय में जा बसी।

सोमिल आग की लपटों से जलते गजसुकुमाल को देख कर अत्यन्त हर्षित हुआ और 'सुकुमल बालिका के जीवन में आग लगाने वाले तेरे लिए यह दण्ड उचित है' कहता हुआ वह नगर की ओर बढ़ चला।

(६)

दूसरे दिन श्री कृष्ण ने नेमिनाथ भगवान को बन्दन करके अन्य मुनियों को बन्दन किया, परन्तु गजसुकुमाल को वहाँ न देख कर भगवान को पूछा, 'भगवान्! गजसुकुमाल मुनि कहाँ हैं?'

भगवान ने उन्हें उनके मोक्ष-गमन तक का समस्त वृत्तान्त कह सुनाया। वृत्तान्त सुनते-सुनते श्रीकृष्ण के नेत्रों के सामने अँधेरा आने लगा। उन्हें सोमशर्मा पर अत्यन्त क्रोध आया। यह समाचार सुन कर माता देवकी की क्या दशा होगी - इस विचार से वे अत्यन्त दुःखी हुए और उनको बन्धु-विहीन, निराधार बनने का अत्यन्त दुःख हुआ।

भगवान ने श्री कृष्ण को धैर्य बँधाते हुए कहा, 'गजसुकुमाल को एक ही रात्रि में इस प्रकार की महान् सिद्धि प्राप्त कराने वाले सोम शर्मा पर आप क्रोध न करें। अपना ही उदाहरण लो। आप यहाँ आ रहे थे तब एक वृद्ध ब्राह्मण को अपनी कुटिया बनाने के लिये ईंटे उठाते आपने देखा। यह देख कर आपको ब्राह्मण पर दया आई और आपने तथा आपके परिवार ने ईंट उठाने में उसकी सहायता की, जिससे उसका कार्य शीघ्र सम्पन्न हो गया। सोमशर्मा ने उपसर्ग सहन करने वाले गजसुकुमाल को

मरणान्त उपसर्ग देकर सिद्धि प्रदान कराई है। देवकी का छोटा पुत्र समस्त पुत्रों से पूर्व मोक्ष में गया और इस प्रकार वह सचमुच सबसे महान् बन गया।

भगवान को वन्दन करके श्रीकृष्ण स्मशान की ओर गये। वहाँ नगर में प्रविष्ट होता हुआ सोम शर्मा सामने मिला। श्रीकृष्ण को देख कर भय से काँपता हुआ वह वहीं पर ढेर हो गया और मृत्यु को प्राप्त हुआ। श्रीकृष्ण का क्रोध शान्त हुआ। गजसुकुमाल के इस प्रसंग के पश्चात् शिवादेवी, भगवान के भाई, श्री कृष्ण के पुत्र आदि अनेक यादवों ने दीक्षा ग्रहण की और अपना आत्म-कल्याण किया। इस प्रकार यह महापुरुष मरणान्त उपसर्ग सह कर अपनी आत्म-साधना के साथ-साथ अनेक व्यक्तियों की आत्म-साधना के निमित्त बने।

गजसुकुमाल मुगते गया रे लोल, वंदु वारंवार रे।

मन थिर राख्युं आपणुं रे लोल, पास्या भवनो पार रे।।

(उपदेशमाला से)

(२६)

संसार का मेला अर्थात् चन्दन मलयागिरि

(१)

मध्य रात्रि का समय था। सर्वत्र शान्ति थी। उस समय पलंग पर सोये हुए कुसुमपुर के राजा चन्दन ने सुना, 'राजा! तेरी दुर्दशा होगी, यदि तुझे जीवित रहना हो तो शीघ्र चला जा।' राजा ने एक वार, दो वार ये शब्द सुने। उसने इधर-उधर देखा परन्तु कोई दृष्टिगोचर नहीं हुआ। राजा खड़ा हुआ तो रूप की अम्बार तुल्य एक देवी दृष्टिगोचर हुई और 'मैं तेरी कुल देवी हूँ' - यह कह कर वह अदृश्य हो गई।

प्रातःकाल हुआ। राजा ने रानी मलयागिरि को बुलाकर शान्त चित्त से कहा, 'देवी! रात्रि में कुलदेवी ने समाचार कहे हैं कि 'तुझ पर भारी विपत्ति आने वाली है।' विपत्ति हमें घेरे और हम अचेत बने रहें उसकी अपेक्षा हम स्वयं जाकर विपत्ति को गले क्यों न लगायें?' रानी राजा की बात से सहमत हो गई और सायर एवं नीर दोनों पुत्रों को साथ लेकर राजा-रानी ने प्रयाण किया।

(२)

राजा चन्दन, रानी मलयागिरि, तथा राजकुमार सायर एवं नीर - यह समस्त राज-परिवार घूमता-घूमता कुशस्थल नगर में पहुँचा। उनके सबके पाँव नग्न थे, देह पर खरोंचें लगी हुई थीं। घूमते-घूमते चन्दन ने कुशस्थल में एक सेठ के घर पुजारी की नौकरी ढूँढ निकाली और मलयागिरि ने लकड़ियों का गट्ठर बाँधकर बेचने का कार्य प्रारम्भ किया।

उन्होंने कुशस्थल के बाहर एक झोंपड़ी (कुटिया) बनाई। चन्दन नौकरी का कार्य समाप्त होने पर रात्रि में झोंपड़ी पर आता और मलयागिरि भी लकड़ियाँ बेच कर जो प्राप्त होता उससे दो कुमारों का पोषण करती। रात को चारों एकत्रित होते और प्रातः अपने-अपने कार्य पर चले जाते।

सन्ध्या का समय था। एक परदेशी व्यापारी चौक में बैठा हुआ था। इतने में मलयागिरि की 'लकड़ी लो, लकड़ी लो' आवाज उसके कानों में पड़ी। घंटियों की रणकार सदृश आवाज सुन कर उस व्यापारी ने उस ओर अपना मुँह फिराया तो एक सुन्दर रूपवती स्त्री को लकड़ियाँ बेचते हुए देखा। व्यापारी ने उस स्त्री को बुला कर कहा,

‘यहाँ आ, उतार गट्ठर।’ स्त्री ने गट्ठर उतारा परन्तु व्यापारी की दृष्टि लकड़ियाँ देखने की अपेक्षा उस स्त्री के अंगोपाङ्गों को निहारने लगी। उस स्त्री ने कहा, ‘सेठजी पैसे दीजिये, मुझे जाना है।’ व्यापारी ने अनुमान से अधिक मूल्य दिया और मलयागिरि पैसे लेकर अपनी कुटिया पर चली गई।

नित्य मलयागिरि लकड़ी का गट्ठर लाती और वह व्यापारी दुगुना तिगुना मूल्य देता। इस तरह तीन-चार दिन व्यतीत होने पर मलयागिरि ने गट्ठर उतारा कि व्यापारी के सशक्त सेवकों ने तुरन्त मलयागिरि को रथ में खींच कर रथ को आगे बढ़ा दिया। मलयागिरि ने छूटने के लिए अत्यन्त उछल-कूद की परन्तु उन काल-भैरवों के समक्ष उसके समस्त प्रयत्न निष्फल रहे। तनिक दूर जाने पर व्यापारी बोला, ‘मलयागिरि! यह देह क्या लकड़ियाँ बेचने के योग्य है? तु मेरी अर्द्धाङ्गिनी बन जा और यह समस्त वैभव तू अपना समझ कर मेरे साथ रह।’

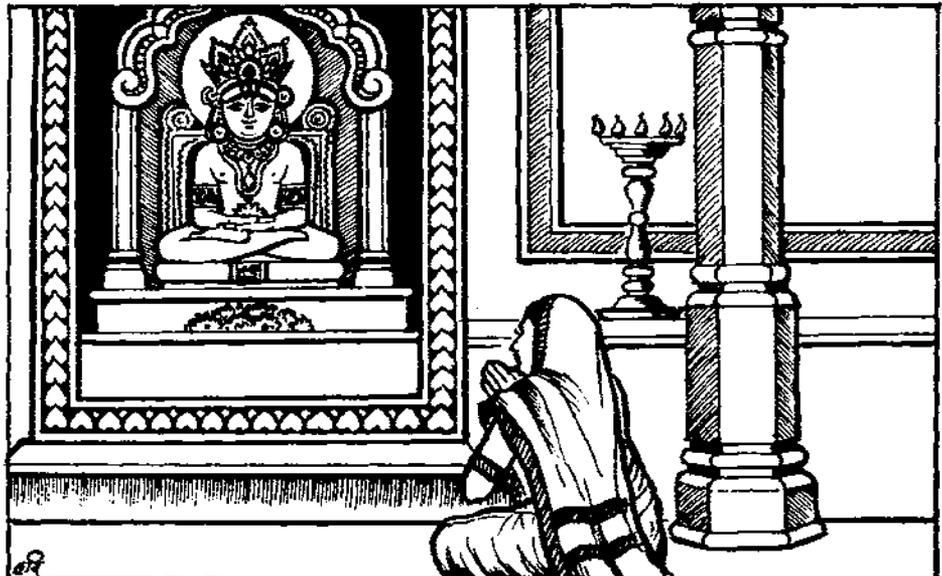
मलयागिरि हाथों से कान बन्द करके बोली -

अग्नि-मध्य यलवो भलो, भलो ज विष को पान।

शील खंडवो नहीं भलो, नहीं कुछ शील समान।।

‘व्यापारी! दूर हट जा। मेरी देह में प्राण रहेगा तब तक मैं अपना शील खंडित नहीं करूँगी। यदि तुने मेरा शील खंडित करने का प्रयास किया तो मेरी लाश के अतिरिक्त तेरे हाथ में कुछ नहीं आयेगा।’ सौदागर भयभीत हो गया और उसे धीरे-धीरे अपने पक्ष में करने के प्रयत्न में लग गया।

अब मलयागिरि व्यापारी के साथ रहती हुई अपने समय को तप, ज्ञान, ध्यान और जिनेश्वर-भक्ति में व्यतीत करने लगी।



मलयागिरि व्यापारी के साथ रहती हुई अपना समय तप, ज्ञान, ध्यान एवं प्रभु-भक्ति में व्यतीत करने लगी।

(३)

राजा चन्दन उस वणिक के घर पूजा-विधि सम्पन्न करके रात को जब कुटिया में लौटा तो सायर एवं नीर दोनों सिसक-सिसक कर रो रहे थे। चन्दन ने उनके आँसु पोंछे और कहा, 'पुत्र क्यों रो रहे हो? तुम्हारी माता कहाँ गई?'

बालकों ने कहा, 'कौन जाने अभी तक क्यों नहीं आई? हमने उनकी बहुत प्रतीक्षा की परन्तु वह दृष्टिगोचर ही नहीं हुई।'

चन्दन कुटिया से बाहर, इधर-उधर घूमा। जो भी कोई मिलता उसे पूछता, 'किसी ने देखा है लकड़ियाँ बेचने वाली मलयागिरि को?' किसी ने इनकार किया तो किसी ने कोई उत्तर ही नहीं दिया। चन्दन ने मन को स्थिर किया और सोचा कि, 'यदि मैं मस्तिष्क का सन्तुलन खो दूँगा तो इन दोनों बालकों का क्या होगा?'

कुटिया पर आकर दोनों पुत्रों को लेकर चन्दन कुशस्थल छोड़कर चला गया। गाँव के बाहर वन-निकुञ्ज के उद्यान में जो कोई मिलता उन सबको यही पूछता कि, 'किसी ने देखा है मेरी मलयागिरि को?' पशुओं, पक्षियों वन के वृक्षों तथा सरसराती वायु को सबको चन्दन पूछता कि, 'बताओ, बताओ उस कटियारिन मलयागिरि को!' परन्तु कहीं से भी उसे कोई उत्तर नहीं मिला।

कभी दौड़ता, कभी विश्राम लेता और निःश्वास छोड़ता हुआ स्थान-स्थान पर ठोकें खाता हुआ चन्दन वननिकुञ्ज में और मार्ग में 'हे मलयागिरि! हे मलयागिरि! करता हुआ उसे पुकारता और मस्तिष्क का सन्तुलन खोने जैसा हो जाता तब सायर और नीर कहते, 'पिताजी! भूख लगी है', चन्दन उन्हें वन के फल और पत्ते खिलाता और स्वयं भी उसी प्रकार निर्वाह करता।

मार्ग में कल-कल करती नदी बह रही थी। चन्दन ने इस किनारे पर सायर को खड़ा कर दिया और नीर को अपने सिर पर बिठा कर नदी पार की और उसे सामने के तट पर खड़ा कर दिया। लौटते समय नदी की गति तीव्र हो गई चन्दन की देह शोक, भूख और कष्टों के कारण शिथिलता का अनुभव कर रही थी। उसने पाँव जमाने का अत्यन्त प्रयास किया परन्तु नदी के वेग के कारण पाँव जम नहीं सके। उसने नदी में बहते-बहते 'बेटा सायर! बेटा नीर!' कह कर उन्हें पुकारा परन्तु उसकी पुकार नदी के प्रवाह की ध्वनि में समा गई। वह डूबता-उतराता बहता रहा। उसने एक-दो गुलाछें भी खाईं। इतने में एक लकड़ी चन्दन के हाथ में आ गई। ऊपर-नीचे होती लकड़ी आनन्दपुर नगर के बाहर छिछले पानी में रुकी और चन्दन भी वहीं रुक गया। नदी से बाहर निकलते समय वह बोला - 'कहाँ चन्दन? कहाँ मलयागिरि? कहाँ सायर? कहाँ नीर?'

उसकी आँखों के समक्ष अन्धकार सा छा गया। वह गिर पड़ा। कुछ समय के पश्चात् वन की मन्द-मन्द वायु से तनिक स्वस्थ हुआ और गाँव में जाकर एक सुनसान चबूतरे पर बैठ गया। कभी वह निश्वास छोड़ता तो कभी 'हे देव! कहाँ चन्दन, कहाँ मलयागिरि?' कह कर अपनी रानी मलयागिरि एवं सायर-नीर का विचार करता। 'कहाँ होगी मलयागिरि? और नदी के दोनो तटों पर बैठे मेरे महा मूल्यवान सायर एवं नीर पुत्रों का क्या हुआ होगा?' इस प्रकार की विचारधारा में डूबा हुआ वह जिस मकान के चबूतरे पर बैठा था, उस घर की रूपवती स्वामिनी ने द्वार खोला और उसकी दृष्टि उस पथिक पर पड़ते ही वह तृप्त हो गई और बोली -

'तुम परदेसी लोग हो, करो न चिन्ता साथ।

कर भोजन सुख से रहो, हम तुम एक ही साथ।।'

'हे नर-पुङ्गव! तुम परदेसी हो, यह समझकर चिन्ता मत करो। आप घर में आओ, सुख पूर्वक रहो और भोजन करो; तनिक भी चिन्ता मत करो।' गृह-स्वामिनी के मधुर शब्द सुनकर चन्दन ने घर में प्रवेश किया। स्वामिनी ने उसे प्रेम पूर्वक स्नान कराया और भोजन कराया। सन्ध्या हो गई। तनिक रात्रि होने पर वह गृह-स्वामिनी आकर चन्दन को कहने लगी, 'महानुभाव! मेरा पति परदेश गया है। वर्षों व्यतीत हो गये परन्तु आज तक उसका कोई पता नहीं लगा। आप इस घर को अपना समझें। इस घर के गमल सामान को, इस वैभव को और मुझे भी आप अपनी समझें। हम साथ



नदी के प्रवाह में बहता हुआ चन्दन अपने पुत्रों को पुकारता है—
बेटा सायर! बेटा नीर! मगर उसकी आवाज़ नदी के प्रवाह में ही समा गई.

रहेंगे और सुख पूर्वक जीवन-यापन करेंगे।'

चन्दन चौंका। वह बोला, 'बहन! मैं विवाहित हूँ। मेरे पत्नी है, पुत्र हैं और मैं परस्त्री को अपनी बहन मानने वाला हूँ, माँ मानने वाला हूँ। माता तू मुझसे दूर हट, मुझे तेरा वैभव नहीं चाहिये और तेरा यौवन भी मेरे काम का नहीं है।' चन्दन घर से बाहर आ गया। रात्रि आदि का तनिक भी विचार न करके वह सीधा नगर छोड़ कर भागा और श्रीपुर नगर के मार्ग पर स्थित एक वृक्ष के नीचे खूंटी तान कर सो गया।

तनिक समय व्यतीत होने पर उसने गले में बाँधी घंटियों की ध्वनि करता एक हाथी और उसके पीछे आते हुए कुछ मनुष्यों को देखा। यह देख ही रहा था कि इतने में हाथी ने आकर सूँड में उठाय़ा हुआ कलश चन्दन के चरणों पर उडेल दिया। पीछे आते हुए मंत्रियों ने 'जय हो, जय हो महाराज चन्दन की' कह कर उसको चारों ओर से घेर लिया और कहा, 'महाराज! हम श्रीपुर नगर के मंत्री हैं। हमारा राजा निःसन्तान मर गया है। राज्य-कर्मचारियों ने निर्णय किया कि हाथी को कलश दे दो, वह जिस महा-पुरुष पर कलश उडेल दे, उसे हम राज्य-सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर देंगे।'

मंत्री ढोल-नगारों के साथ चन्दन को हाथी पर विठा कर श्रीपुर नगर में ले गये। वह श्रीपुर का राजा बन गया। अनेक राजाओं ने अपनी राजकुमारियों का राजा चन्दन के साथ विवाह करने का प्रयत्न किया पर उसने विवाह करने से इनकार कर दिया।

चन्दन राजा बन गया परन्तु उसके नेत्रों के सामने से मलयागिरि, सायर एवं नीर हटते नहीं थे। वह छुप छुप कर कई बार 'कहाँ चन्दन, कहाँ मलयागिरि?' शब्दों का उच्चारण करता और उनकी खोज करता रहता था। वह राज्य-संचालन करता था परन्तु उसका हृदय तो मलयागिरि और सायर तथा नीर की चिन्ता से ही घिरा रहता था।

(४)

इधर नदी के आमने-सामने के तटों पर सायर और नीर खड़े-खड़े रुदन कर रहे थे। वे ओ पिताजी! ओ पिताजी! की आवाज लगाते और कभी सायर नीर को 'ओ नीर! ओ नीर!' कह कर पुकारता तो कभी नीर 'ओ भाई सायर! ओ भाई सायर!' पुकार-पुकार कर रोता। कुछ समय पश्चात् वहाँ एक सार्धवाह आया। उसने नदी के दोनों तटों पर रोते उन दोनों बालकों को साथ ले लिया, उन्हें साथ रख कर उनका पोषण किया, उन्हें बड़ा किया परन्तु बड़े होने पर दोनों भाइयों को अपने माता-पिता की खोज करने की इच्छा हुई। अतः एक रात्रि में सार्धवाह के नाम पर एक पत्र लिख

कर वहाँ से निकल कर वे दोनों भाई श्रीपुर नगर में आये।

श्रीपुर नगर में इधर-उधर घूमने के पश्चात् उन दोनों ने राजा के महल में सन्तरियों की नौकरी स्वीकार कर ली। वे नित्य राजा को प्रणाम करते और अपना कर्तव्य बजाते थे। राजा उन्हें पहचान नहीं पाया और न ही वे दोनों भाई राजा को पहचान पाए।

(५)

मलयागिरि चन्दन, सायर और नीर का स्मरण करती हुई व्यापारी के साथ घूम रही थी। व्यापारी ने उसे विचलित करने के तथा उसे सताने के अनेक प्रयत्न किये परन्तु वह सफल नहीं हुआ और न उसका मोह छोड़ कर वह उसका परित्याग भी कर सका। मलयागिरि जिनेश्वर भगवान के स्मरण-कीर्तन में समय व्यतीत करती और अच्छे दिनों की प्रतीक्षा में थी। सार्धवाह घूमता-घूमता श्रीपुर नगर में आ पहुँचा। उसने राजा को उत्तम उपहार भेजे और अपनी सम्पत्ति की सुरक्षा करने के लिए दो सन्तरियों की माँग की। राजा ने युवा योद्धा सायर और नीर को सार्धवाह की सम्पत्ति की सुरक्षा करने के लिए भेज दिया।

ठीक गाँव के बाहर ही व्यापारी के तम्बू लगे थे। मध्य में दो विशाल तम्बू थे। एक तम्बू में व्यापारी और दूसरे में मलयागिरि थी। आसपास में नौकर-चाकरों की रावटियाँ एवं गोदाम थे। शीतकाल की रात्री होने के कारण वह कठिनाई से व्यतीत हो रही थी। सायर, नीर एवं व्यापारी के अन्य सन्तरियों में वार्त्तालाप छिडा और वे एक दूसरे को आप-बीती बातें कहने लगे। सायर और नीर ने अपनी 'राम कहानी' कहनी प्रारम्भ की, 'हम अपनी क्या बात कहें? हमारे पिता कुसुमपुर के राजा चन्दन और हमारी माता मलयागिरि है। हम सायर और नीर उनके दो पुत्र हैं। हम पर ऐसी विपत्ति आई कि पहने हुए वस्त्रों से हमें अपना नगर कुसुमपुर छोड़ना पड़ा और हम कुशस्थल आये। पिताजी ने पुजारी की नौकरी कर ली और माता ने जंगल से लाकर लकड़ियाँ बेचना प्रारम्भ किया। एक दिन रात तक माता नहीं आई। वह कहाँ गई कुछ पता न लगा। पिताजी उसकी खोज में निकले। हम उनके साथ थे। नदी के तट पर मुझे छोडा और दूसरे तट पर नीर को छोडा। नीर को छोड़ कर लौटते समय नदी के तीव्र वेग में पिताजी वह गये। कहाँ गये पिता और कहाँ गई माता मलयागिरि जिसका कोई पता नहीं लगा। कुछ समय के पश्चात् एक सार्धवाह आया जिसने नीर को और मुझे साथ लिया, हमारा पोषण किया, परन्तु हम वहाँ नहीं रहे। हमने श्रीपुर आकर वहाँ सन्तरियों की नौकरी की। क्या भाग्य की बलिहारी है और क्या जीवन के संयोग-वियोग हैं?'

उस समय तम्बू में सोई हुई मलयागिरि जग रही थी। उसने यह समस्त वृत्तान्त अपने कानों से सुना। पुत्रों को देख कर उसका रोम-रोम पुलकित हो उठा, उसकी कंचुकी फूल गई, स्तनों में से दूध की धारा बहने लगी। वह अंधेरी रात्रि में बाहर निकली और 'पुत्र सायर! पुत्र नीर! कह कर उसने उन दोनों का आलिंगन किया और वह सिसकियाँ भर-भर कर रोने लगी। इस आवाज से तम्बू में सोया हुआ व्यापारी जग गया और सायर तथा नीर को धमकी देता हुआ बोला, 'तुम चोरी करने के लिए आये हो अथवा किसी की स्त्री को उठाने के लिए आये हो?' परस्पर वाद-विवाद करते हुए भोर हो गया और यह शिकायत श्रीपुर के राजा चन्दन के पास पहुँची।

व्यापारी ने अनुनय-विनय के साथ राजा को निवेदन किया, 'राजन्! ये दोनों सन्तरी मेरी इस पत्नी को उठा ले जाना चाहते हैं।'

राजा ने कहा, 'युवकों! सत्य सत्य बात कहो, तुम कौन हो?' युवकों ने अश्रु-पूर्ण नेत्रों से स्वयं पर बीती कहानी कहनी प्ररम्भ की। राजा ने बरबस धैर्य रखा परन्तु जब वे बालक जोर जोर से रोते हुए बोले कि, 'राजन्! माता मलयागिरि तो बारह वर्षों के पश्चात् हमें मिली परन्तु पुत्रों को माता की अपेक्षा अधिक प्यार करने वाला हमारा तारणहार पिता चन्दन हमें कहाँ मिलेगा?' यह कह कर दोनों भाई और मलयागिरि सिसक-सिसक कर रो पड़े।

राजा का धैर्य टूट गया। वह राज्य-सिंहासन पर खड़ा हो गया और बोला, 'पुत्रों!



राजसिंहासन पर से उठ कर महाराजा चन्दन ने कहा -
पुत्रों! गभराओ मत, यह खज है तुम्हारा पिता चन्दन!

घबराओ मत, यह खड़ा है तुम्हारा पिता चन्दन।' पुत्र पिता के गले लग गये और मलयागिरि लज्जित हो गई।

व्यापारी फीका पड़ गया। राजा ने उसे क्षमा-दान देकर निकाल दिया। तत्पश्चात् चन्दन कुसुमपुर एवं श्रीपुर दोनों स्थानों का राजा बन गया। सायर एवं नीर दोनों राज्यों के अलग अलग युवराज बनाये गये।

घोर विपत्ति के समय भी चन्दन एवं मलयागिरि ने साहस रख कर शील का पालन किया और अनन्य निष्ठा के साथ वियोग सहन करने के कारण उन्होंने अधिक संयोग का अनुभव किया।

(उपदेशमाला से)

(२७)

आरीसा भवन में केवलज्ञान अर्थात् चक्रवर्ती भरत

(१)

अत्यन्त प्राचीन काल का यह प्रसंग है। जब संसार में मुँह-माँगी वृष्टि होती थी, दुःख-शोक एवं भय का नामो-निशान नहीं था, किसी में किसी की सम्पत्ति छीन लेने की भावना नहीं थी, सभी लोग सन्तोषी थे। उस तीसरे आरे के अन्त तथा चौथे आरे के प्रारम्भ की यह बात है। जब मनुष्यों की आयु अत्यन्त लम्बी होती थी और मनुष्यों की देह की लम्बाई भी अधिक होती थी।

पशु-पक्षियों एवं अन्य जीवों को अपना निर्याह करने के लिए अत्यल्प चिन्ता करती पड़ती थी। उस तरह से उस काल में मानव प्रकृति से रहने के लिए घर माँग लेते, वे भोजन भी कल्प-वृक्ष से माँगते और आवश्यकतानुसार अन्य वस्तुएँ भी कल्पवृक्ष उन्हें प्रदान करते थे, परन्तु यह अवसर्पिणी काल है। यह तो घटता काल है। ज्यों ज्यों समय बीतता गया, त्यों त्यों कल्पवृक्ष का प्रभाव घटने लगा। माँगने पर कल्पवृक्ष आहार प्रदान नहीं करने लगे, जिससे मनुष्यों को चिन्ता हुई। उन्होंने स्वयं की जाति में से एक नायक हुए, जिनमें 'नाभि' सातवें थे।

नाभि कुलकर एवं मरुदेवा का पुत्र हुआ, जिसका नाम ऋषभ था। ये ऋषभ इस चौबीसी के प्रथम तीर्थकर हुए और उस काल के प्रथम राजा। वे इस जगत् की समस्त व्यवस्था के निर्माता एवं प्रथम त्यागी थे। उन्होंने दो स्त्रियों के साथ विवाह किया - एक सुनन्दा और दूसरी सुमंगला।

इस सुनन्दा एवं सुमंगला के साथ भोग भोगते-भोगते ऋषभदेव के एक सौ पुत्र हुए। सुमंगला ने सर्व प्रथम एक पुत्र और एक पुत्री को जन्म दिया, जिनका नाम भगवान ने भरत और द्वाष्मी रखा। तत्पश्चात् सुनन्दा ने भी एक पुत्र-पुत्री रूपी युगल को जन्म दिया, जिनके नाम बाहुबली और सुन्दरी रखे गये। तत्पश्चात् सुमंगला ने उनचास युगल पुत्रों को अर्थात् अठाणवे पुत्रों को जन्म दिया।

ऋषभदेव ने लोगों को विभिन्न कलाओं की शिक्षा दी। राज्य का प्रबन्ध, कार्य-विभाजन एवं तदनुरूप जाति का प्रबन्ध करके वे प्रथम राजा बने। राज्य के उपभोग में उन्होंने त्रेसठ पूर्व व्यतीत किये। तत्पश्चात् उन्होंने भरत को विनीता का राज्य,

बाहुवली को तक्षशिला का राज्य और अन्य पुत्रों को भिन्न-भिन्न राज्य प्रदान करके स्वयं ने दीक्षा ग्रहण की। भरत माण्डलिक राजा बना।

(२)

प्रातःकाल का समय था। भगवान भुवन भास्कर ने अभी अभी ही अपनी स्वर्णिम किरणों की चादर पृथ्वी पर फैलाई थी।

अयोध्या के राजप्रसाद के एक विशाल कक्ष में अत्यन्त वृद्धा राजमाता मरुदेवा बैठी थीं। इतने में वहाँ भरतजी आये और बोले, 'माताजी! मेरा वन्दन स्वीकार करें।'

माता बोली, 'कौन? भरत है?'

'हाँ माताजी, मैं भरत हूँ। आप सकुशल तो हैं न?' यह कहते हुए भरतजी ने मरुदेवा माता के चरणों का स्पर्श किया।

'सकुशल' शब्द सुनकर माता का हृदय भर आया। उनके नेत्रों में आँसू छलक आये और वे बोली, 'पुत्र भरत! ऋषभ के विना मैं सकुशल कहाँ से हो सकती हूँ? मेरी कुशलता ऋषभ की कुशलता में है। ऋषभ ने मेरा, तेरा और सबका परित्याग किया। एक समय था जब उसके सिर पर चन्द्रमा की कान्ति तुल्य उज्ज्वल छत्र रखे जाते थे, वह ऋषभ आज नंगे सिर और नंगे पाँव भटकता है। पुत्र! इस ऋषभ के लिए देव कल्पवृक्ष भोजन तथा क्षीर-सागर के जल प्रस्तुत करते थे, वही आज घर घर भिक्षा माँगता है। जिसके समक्ष पंखे झलने वाली स्त्रियों के कंगनों की मधुर ध्वनि होती थी, वही ऋषभ आज वन के मच्छरों की गुनगुनाहट में कायोत्सर्ग ध्यान में खड़ा रहता है। पुत्र! वह वाघ, भेंड़ियों में कैसे रहता होगा? तू और बाहुवली सब राज्य का उपभोग कर रहे हो। तुम मेरे पुत्र की तनिक भी परवाह नहीं करते। भरत! मैं किसको दोष दूँ? दोष मेरे अपने भाग्य का है। धिक्कार है मुझे कि ऋषभ जैसा पुत्र पाकर भी वृद्धावस्था में मुझे वियोग सहना पड़ा। मैं तो अभी ही उसके पीछे उसकी देख-रेख करने के लिए दौड़ जाती, परन्तु क्या करूँ? मैंने उसके वियोगजन्य-दुःख में रो-रोकर अपनी आँखें खो दी हैं। भरत! अधिक नहीं तो वह कहाँ है और क्या करता है उसके समाचार तो दे दिया कर।' यह कहती हुई माता मुक्त हृदय से रो पड़ी।

भरत के नेत्र भर आये फिर भी धैर्य धारण करके वे बोले, 'माताजी! आप दुःख न करें। आप त्रिभुवनपति ऋषभदेव की माता हैं, तीन लोक के आधार जो प्रथम तीर्थंकर बनने वाले हैं उन आदीश्वर की आप जननी हैं। माताजी! जिनका नाम स्मरण करने से दूसरों को उपद्रव नहीं होते, उन आपके पुत्र को उपद्रव कैसे हो सकते हैं? आप मन में अधीर न बनें। आप तो विश्व के तारणहार पुत्र के त्याग का अनुमोदन करें।'

तत्पश्चात् भरत अश्रुपूर्ण नेत्रों से माता के चरण स्पर्श करके अपने आवास पर

आये और नित्यकर्म में लग गये।

‘राजन्! शुभ समाचार है।’ राजसेवक यमक ने नमस्कार कर कहा।

‘क्या?’ आश्चर्य चकित होकर बोले।

‘राजेश्वर पुरिमताल नामक उपनगर के शकटानन उद्यान में कायोत्सर्ग ध्यानस्थ भगवान श्री ऋषभदेव को आज तीन लोक को वतानेवाला केवलज्ञान प्राप्त हुआ है।’

भरत उसे पुरस्कृत करे इतने में तो दूसरा राजसेवक ‘समक’ दौड़ता हुआ आया और नमस्कार करके बोला, ‘देव! आयुध-शाला में सूर्य के समान तेजस्वी हजार आरों युक्त चक्ररत्न उत्पन्न हुआ है।’

दोनों बधाई साथ सुन कर भरतेश्वर विचार में पड़ गये। ‘क्या करें? पहले चक्र का पूजन करें अथवा भगवान का?’

दूसरे ही क्षण विचार धारा निर्मल बनी और वे विचार करने लगे, ‘अरे, मैं कैसा पामर हूँ? चक्र तो चक्रवर्ती का पद प्रदान करने वाला है और वह तो संसार में अनेक बार प्राप्त होता है परन्तु तीन लोक के तारणहार तीर्थंकर पिता के केवलज्ञान महोत्सव का लाभ थोड़े ही बार-बार प्राप्त होने वाला है?’

यमक एवं समक को बधाई देने के लिए पुरस्कृत किया गया और सेवकों को भगवान के दर्शनार्थ जाने के लिए तैयारी करने का आदेश दिया गया।

(४)

‘माताजी! आप नित्य जिनका हृदय में दुःख करके चिन्तित होती हो उन आपके पुत्र ऋषभदेव को आज केवलज्ञान प्राप्त हुआ है। करोड़ों देवता तथा मानव उनके केवलज्ञान का महोत्सव करने के लिए उमड़ पड़े हैं। माताजी! चलिये आपके पुत्र की ऋद्धि देखने के लिए। हम ऋद्धि का उपभोग कर रहे हैं कि आपके पुत्र तीन लोकों के स्वामित्व का उपभोग कर रहे हैं वह तो देखिये।’ - भरतेश्वर ने मरुदेवा माता को प्रणाम करके कहा।

मरुदेवा माता को अपने साथ हाथी पर विठा कर भरतेश्वर ने चतुरंगिनी सेना सजा कर समवसरण की ओर प्रयाण किया।

इन्द्र-ध्वज, रत्न-ज्योति एवं देवताओं के दल के दल आकाश में से उतरते देख कर भरतेश्वर ने मरुदेवा माता को कहा, ‘माताजी देखो, ये देवता ‘मैं पहले दर्शन करूँ, मैं पहले दर्शन करूँ’ इस स्पर्द्धा से भगवान की ओर दौड़ रहे हैं। माताजी! सुनो यह देवदुंदुभि की ध्वनि। आपके पुत्र को केवलज्ञान हुआ है उस निमित्त देवता हर्ष से वजा रहें हैं। माताजी! देखो तो सही, वाघ-भेडिये सब अपना वैर भूल कर ऋषभदेव की देशना श्रवण कर रहे हैं।’

मरुदेवा माता के नेत्रों में से हर्षाश्रुओं का प्रवाह उमड़ पड़ा। और रो रोकर बँधे हुए प्रगाढ़ कर्म-पडल टूट गये। उन्होंने पुत्र की ऋद्धि स्वयं देखी और उसमें तन्मय होकर बोली, 'भरत! तू सत्य कह रहा था! ये तो तीन लोक के स्वामित्व का उपभोग कर रहें है। मैं अज्ञानी एवं मोहान्ध उसे वास्तविक रूप में नहीं पहचान सकी। मैंने पुत्र का शोक व्यर्थ किया। मुझे जो करना चाहिये था वह मैंने कुछ नहीं किया। पुत्र ने मोह का परित्याग किया, उसी प्रकार मुझे भी मोह का परित्याग करना चाहिये था। किसके पुत्र और किसकी माता?'

तत्पश्चात् भरतेश्वर की सवारी आगे बढ़ी, त्यों माता की विचारधारा भी अन्तर्मुखी बन कर आगे बढ़ी और उन्हें मार्ग में हाथी पर ही केवलज्ञान प्राप्त हुआ।

'माताजी! क्या विचार कर रही हो? किस ध्यान में हो?' भरतेश्वर बोलें इतने में तो आकाश में देवदुंदुभि वज्र उठी और देव बोले, 'भरतेश्वर! माताजी को केवलज्ञान हो गया है। राजन्! क्या माता और क्या पुत्र? अपना पुत्र ऋषभदेव जो मोक्ष-लक्ष्मी प्राप्त करता है वह लक्ष्मी कैसी है? यह देखने के लिये माता पहले मोक्ष में गई और पुत्र भी कठोर तप करके केवलज्ञान प्राप्तकर सर्व प्रथम उक्त केवलज्ञान उन्होंने माता को भेजा। ऐसी माता-पुत्र जोड़ी प्राप्त होना विध्व में अत्यन्त दुष्कर है।'

देवों ने मरुदेवा माता का शव क्षीर-सागर में डाल दिया। तत्पश्चात् देव एवं भरत मध्यरात्रि के चन्द्रोदय के समय अन्धकार एवं चाँदनी दोनों विद्यमान होते हैं, उसी



माताजी! सुनो यह देवदुंदुभि की ध्वनि! आपके पुत्र को केवलज्ञान हुआ है उस निमित्त देवता हर्ष से वार्त्तित्र बजा रहे हैं.

प्रकार माता की मृत्यु से उदासीनता और उनके निर्वाण से हर्ष, इस प्रकार मिश्रित भाव युक्त हुए और वे भगवान के समवसरण में प्रविष्ट हुए।

(५)

भरतेश्वर ने भगवान के केवलज्ञान का महोत्सव मनाने के पश्चात् चक्ररत्न की पूजा की। उसके बाद तो उन्हें एक एक करके चौदह रत्न प्राप्त हुए।

भरतेश्वर ने दिग् यात्रा पर प्रस्थान किया। मागध, वरदाम एवं प्रभासदेव की साधना के पश्चात् उन्होंने भरतक्षेत्र के छः खण्डों और विद्याधरों के राजा नमि-विनमि को अपने अधीन बनाया। विनमि ने अपनी पुत्री सुभद्रा का विवाह भरतेश्वर के साथ कर दिया जो अन्त में स्त्री-रत्न बनी।

भरतेश्वर ने छः खण्डों के उपरान्त नैसर्प, पाण्डुक आदि नौ निधियाँ प्राप्त कीं। इस प्रकार भरत चौदह रत्नों, नौ निधियों, बत्तीस हजार राजाओं, छियाणवे करोड़ गाँवों, बत्तीस हजार देशों, चौरासी लाख हाथियों, अश्वों, रथों और छियाणवे करोड़ पैदल सेना आदि के स्वामी बने और वे चक्रवर्ती बने।

(६)

‘सुन्दरी! यह क्या हुआ? कैसा तेरा रूप-लावण्य और कैसी मोहक तेरी देह थी। तेरी वह आभा और बल सब गया कहाँ?’

‘देह का स्वभाव है, यह सदा समान थोड़े ही रहती है?’ सुन्दरी ने सस्मित भाव से कहा।

भरत चक्रवर्ती ने सेवकों को धमकाते हुए कहा, ‘सेवकों! मैं दिगयात्रा पर गया था परन्तु तुम तो सब यहीं पर थे न? सुन्दरी की देह ऐसी कैसे हो गई? औषधियों और खाद्य-सामग्री का क्या अभाव था कि यह ऐसी अशक्त एवं निस्तेज हो गई?’

सेवकों ने उत्तर दिया, ‘जिसके पास देवता स्वयं उपस्थित हों उसे भला क्या कमी होगी? सुन्दरी को सदा दीक्षित होने की धुन थी। उन्हें आपने दीक्षा ग्रहण करने की अनुमति प्रदान नहीं की, इसी कारण आप दिगयात्रा पर निकले तब से आज तक ये आयंबिल तप करती रहीं और अब भी कर रही हैं।

‘सुन्दरी! दीक्षा का तेरा निश्चय ही है तो मैं तुझे नहीं रोक्ूँगा। मैं तो राज्य-वैभव का त्याग करके अपना कल्याण नहीं कर सकता परन्तु आत्म-कल्याण करने से मैं तुझे क्यों रोक्ूँ?’ भरतेश्वर ने दीक्षा के लिए डाले गये अन्तराय के लिए पश्चाताप

प्रदर्शित करते हुए कहा।

तत्पश्चात् सुन्दरी दीक्षित हो गई और भरतेश्वर के अटाणवे भाई, वाहुवली एवं अन्य अनेक पुत्र भी दीक्षित हो गये।

(७)

भगवान ने बताया, 'भरत! तेरा पुत्र मरीचि इस चौबीसी में 'महावीर' के नाम से चौबीसवाँ तीर्थकर बनेगा। महाविदेह क्षेत्र में प्रियमित्र नामक चक्रवर्ती होगा और इस अवसर्पिणी में त्रिपृष्ठ नामक प्रथम वासुदेव भी होगा।'

भरत चक्रवर्ती भगवान की यह वाणी सुनकर सोचने लगा, 'क्या कर्म का प्रभाव है? मेरे भाइयों, बन्धुओं एवं अनेक पुत्रों ने दीक्षा ग्रहण की परन्तु कोई उस दीक्षा का विरोधी नहीं है, और इस मरीचि ने दीक्षित होने वालों का देवों के द्वारा होता पूजा-सम्मान देखकर भगवान के पास दीक्षा ग्रहण की परन्तु वह सर्दी-गर्मी के उपसर्ग सहन नहीं कर सका। अतः उसने कोई भिन्न वेष ही धारण किया है। वह भगवे वस्त्र पहनता है, पाँवों में खड़ाऊ रखता है, पात्र न रख कर कमण्डल रखता है और सिर पर भी छत्र रखता है। अभी तक इतना ठीक है कि उसमें उपदेश देने की सुन्दर छटा होते हुए भी वह लोगों को उपदेश सच्चा देता है और अपने भगवे वेष में अन्य किसी को सम्मिलित नहीं करता। फिर भी वह वास्तव में पुण्यशाली है, क्योंकि वह चौबीसवाँ तीर्थकर बनेगा। मेरे लिए तो वह सचमुच वन्दनीय है।'

भरत चक्रवर्ती मरीचि के पास गये और तीन प्रदक्षिणा देकर वन्दन करके बोले, 'भाग्यशाली! तुम सचमुच पुण्यशाली हो। भगवान ने बताया है कि मरीचि अन्तिम तीर्थकर बनेगा, महाविदेह क्षेत्र में चक्रवर्ती बनेगा और इस भरतक्षेत्र में प्रथम वासुदेव बनेगा। मैं तुम्हारे भगवे वेष को वन्दन नहीं करता, परन्तु तुम अन्तिम तीर्थकर बनोगे इस कारण तुम सचमुच भाग्यशाली हो, इसलिए वन्दन करता हूँ।'

भरतेश्वर तो चले गये परन्तु मरीचि के हर्ष का पार न रहा। द्वेष पर विजयी होना सरल है परन्तु राग पर विजयी होना अत्यन्त कठिन है। अतः मोक्ष की सीढ़ी चढ़ते समय क्रोध एवं मान तो पहले नष्ट हो जाते हैं परन्तु राग रूपी माया और लोभ तत्पश्चात् ही जाते हैं।

मरीचि हर्ष से नाचने लगा और बोला, 'मेरे दादा प्रथम तीर्थकर, मेरे पिता चक्रवर्ती, मैं प्रथम वासुदेव और अन्तिम तीर्थकर! क्या हमारा कुल! अहा! इस्वांकु कुल में तेईस तीर्थकर बनेंगे। विश्व में हमारे परिवार के समान उच्च परिवार एक भी नहीं है।'

यहाँ पर हर्षातिरेक से मरीचि ने निकाचित नीच गोत्र कर्म का बंध किया।

(८)

विश्व-धरातल को पावन करते हुए एक वार चौतीस अतिशयों के धारक भगवान ऋषभदेव का अष्टापद पर्वत पर पदार्पण हुआ। पर्वत के रक्षकों ने यह समाचार चक्रवर्ती भरत को दिया। ऐसी श्रेष्ठ बधाई देने के बदले चक्रवर्ती ने उन्हें साढ़े बारह करोड़ स्वर्ण-मुद्राएँ पुरस्कार स्वरूप दीं। तत्पश्चात् वे सपरिवार अष्टापद पर्वत पर गये और वहाँ भगवान की प्रदक्षिणा करके उनको वन्दन किया और उनकी देशना श्रवण की। अपने महाव्रतधारी भाइयों को देखकर भरत के मन में भ्रातृ-प्रेम उमड़ पड़ा। अपनी चक्रवर्ती की ऋद्धि एवं हजारों यक्षों एवं सेवकों के होते हुए भी भाइयों के बिना वह जंगल में खड़े टूँठ के समान प्रतीत हुआ, 'मैं बड़ा होते हुए भी छोटा हूँ और आयु में लघु होते हुए भी हृदय के उदार भाव से ये सचमुच बड़े हैं। मैं चक्रवर्ती के सुखों का उपभोग कर रहा हूँ और ये मेरे भाई दुष्कर तपस्या कर रहे हैं। जिसने अपने भाई भी अपने नहीं गिने उसके लिए जगत् में अन्य कौन अपना होगा? ये विचार उत्पन्न हुए।

भरतेश्वर भगवान के पास गये और अपने भाइयों को राज्य-ऋद्धि लौटाने का कहकर घर ले जाने की विनती की। भगवान ने कहा, 'भद्र भरत! देह एवं मन की भी परवाह



भरत ने मरीचि से कह - 'मैं तुम्हारे भगवे वेष को वंदन नहीं कर रहा हूँ मगर,
तुम अंतिम तीर्थकर बनोगे इसलिए वंदन कर रहा हूँ.

मत कर। ये उत्तम मुनि-पुङ्गव वमन किये हुए भोग रूप राज्य को कैसे ग्रहण करेंगे?

भरत तुरन्त पाँच सौ वैल-गाडियों में आहार आदि सामग्री लाकर मुनियों को प्रदान करने लगे तब भगवान ने कहा, 'भरत! मुनियों के लिए आधा कर्मी अर्थात् उनके लिए बनाया गया आहार कल्प्य नहीं होगा।'

भरत ने भगवान को अपने वहाँ, उनके लिए नहीं तैयार किया गया, आहार ग्रहण करके कृतार्थ करने की याचना की।

भगवान ने कहा, 'भरत! मुनि राज-पिण्ड ग्रहण नहीं करते।'

सब ओर से निराश हुए भरतेश्वर के हृदय में शोक-सागर उमड़ पड़ा और वे मूर्च्छित हो गये। उन्हें लगा कि जो मेरी राज्य ऋद्धि का अंश भी इन त्यागी मुनि बन्धुओं के उपयोग में न आये इस प्रकार की राज्य-ऋद्धि वाला मैं राजेश्वर चक्रवर्ती होते हुए भी किसी का भी उपकारी नहीं बनने वाला सचमुच निष्क्रिय निर्धन हूँ।'

इन्द्र ने भरत का दुःख अल्प करने के लिए भगवान को पूछा, 'भगवान, अवग्रह कितने हैं?' भगवान ने कहा - '(१) इन्द्र सम्बन्धी, (२) चक्रवर्ती सम्बन्धी, (३) राजा सम्बन्धी (४) गृहस्थ सम्बन्धी और (५) साधु सम्बन्धी। ये पाँच अवग्रह हैं। उसमें भी इन्द्र की अनुपस्थिति में चक्रवर्ती की अनुज्ञा और चक्रवर्ती की अनुपस्थिति में राजा की अनुज्ञा - इस प्रकार क्रम पूर्वक अनुज्ञा से साधु विचरण कर सकते हैं। इन्द्र ने खड़े होकर बताया कि, 'मेरे अवग्रह में जो मुनि विचरते हैं उन्हें मेरे क्षेत्र में विचरने की मैंने अनुज्ञा प्रदान की है।' तत्पश्चात् भरत ने भी खड़े होकर कहा कि, 'मेरे अवग्रह की मैं भी अनुमति प्रदान करता हूँ।' तत्पश्चात् चक्रवर्ती भरत ने इन्द्र को पूछा कि 'इस भोजन सामग्री का क्या करें?' इन्द्र ने बताया कि 'यह गुणाधिक श्रावकों को प्रदान कर दो।' चक्रवर्ती भरत ने यह बात मान कर श्रावकों को भोजन कराया।

(९)

एक वार चक्रवर्ती भरत ने इन्द्र को पूछा, 'आपका मूल रूप देवलोक में भी ऐसा ही रहता है अथवा परिवर्तित होता है?' इन्द्र ने भरत को अपनी कनिष्ठा अंगुली मूल रूप में बताया। उसे देखते ही भरत के नेत्र चकाचौंध हो गये। सूर्य की सहस्र किरणें संगठित होकर मानो वह बनी हो ऐसा भरत को प्रतीत हुआ। तत्पश्चात् इन्द्र भगवान को नमस्कार करके स्व-स्थान पर चला गया और भरत ने अयोध्या में इन्द्र की अंगुली के स्मरणार्थ इन्द्र की अंगुली का आरोप करके महोत्सव किया। तत्पश्चात् लोगों में इन्द्र-स्तम्भ रोप कर इन्द्र-महोत्सव करने की प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई।

(१०)

भरत चक्रवर्ती ने देखा कि राज-पिण्ड होने से मेरे वहाँ मुनि आहार ग्रहण नहीं कर सकते, तो मुझे कुछ न कुछ अपना कल्याण करना चाहिये। अतः उन्होंने श्रावकों को बुला कर कहा, 'आप मेरे रसोई घर में नित्य भोजन करना, आरंभ-समारंभ का त्याग करके स्वाध्याय करना और मुझे जाग्रत रखने के लिए, 'जितो भवान् भयं भूरि, ततो मा हन मा हन' (आप विजित हैं, भय की वृद्धि हो रही है, अतः किसी जीव अथवा अपने आत्म-गुण का हनन मत करो और सचेत रहो) ये शब्द कहना। वे श्रावक सदा ये शब्द कहते रहते हैं जिन्हें सुनकर भरत के हृदय में क्षणभर के लिए 'मैं कषायों द्वारा जीत लिया गया हूँ, मृत्यु और संसार का भय सिर पर है' आदि विचार आते और शान्त हो जाते।

कुछ समय में तो रसोईघर में भोजन करने वालों की संख्या में अत्यन्त वृद्धि हो गई। अतः सच्चे की परीक्षा करके उन्हें पहचानने के लिए काकिणी-रत्न से तीन रेखाएँ करके श्रावक को पृथक् किया और उनके स्वाध्याय के लिए अरिहन्त की स्तुति और श्रावक और साधु-धर्म के आचारों से अवगत कराने वाले चार वेदों की रचना की। 'मा हन मा हन' कहने वाले ये श्रावक कुछ समय के पश्चात् 'माहना' के नाम से विख्यात हुए और कुछ समय पश्चात् उनमें से कुछ ब्राह्मण हुए। भरत चक्रवर्ती के पश्चात् उनके पुत्र आदित्ययशा के पास काकिणी-रत्न होने से इन माहनों के स्वर्ण की जनेऊ की गई, तत्पश्चात् चाँदी की और आजकल सूत की हो गई है। 'जितो भवान्...' कहने की प्रवृत्ति चक्रवर्ती भरत के पश्चात् उनकी आठ पीढ़ियों तक चली और नवें-दसवें तीर्थंकरों के अन्तर में साधु धर्म का विच्छेद हुआ तब जिनेश्वर भगवान की स्तुति और साधु तथा श्रावक धर्म के आचार रूप भरत चक्रवर्ती के द्वारा रचित वेदों में भी परिवर्तन किया गया और उनके स्थान पर नवीन वेद बने।

(११)

मोक्ष का समय निकट आने पर ऋषभदेव भगवान दस हजार मुनियों के साथ अष्टापद पर्वत पर गये जहाँ उनके साथ भगवान अनशन करके पोष कृष्णा त्रयोदशी (मेरु त्रयोदशी) के दिन अभिजित नक्षत्र में निर्वाण को प्राप्त हुए।

देवों ने महोत्सव पूर्वक भगवान की देह का अग्नि-संस्कार किया और इन्द्र आदि उनके अवशेषों को परम पवित्र मान कर देवलोक में ले गये। भरत चक्रवर्ती ने अग्नि-संस्कार भूमि के निकट सिंहनिषद्या नामक प्रासाद का निर्माण कराया और उसमें चौबीस तीर्थंकर भगवानों की उनके देह के प्रमाण वाली रत्नमय प्रतिमाओं के साथ नित्राणवे

भाइयों की भी प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित की। प्रासाद के बाहर भरतेश्वर ने निन्नाणवे बन्धु मुनियों का यशसमूह हो वैसे निन्नाणवे स्तूपों का भी निर्माण कराया।

भरत चक्रवर्ती बुद्धिमान थे। वे अच्छी तरह जानते थे कि अब पतन का समय आ रहा है। रत्नों से ललचाकर कहीं कोई आशातना न कर ले और प्रत्येक के लिए यह स्थान सुगम न बने, अतः दण्ड-रत्न के द्वारा उस पर्वत के आठ पादचिह्नों के अतिरिक्त समस्त मार्ग समतल कर दिया। इन आठ पादचिह्नों से यह पर्वत अष्टापद के नाम से विख्यात हुआ।

भरत चक्रवर्ती प्रासाद का निर्माण और उसकी प्रतिष्ठा करने के पश्चात् बोझिल हृदय से अयोध्या में आये।

पिता और भाइयों के निर्वाण के पश्चात् चक्रवर्ती भरत को चैन नहीं मिला। उन्हें अपनी ऋद्धि, स्मृद्धि तथा वैभव निरर्थक प्रतीत हुआ। वे अपने निन्नाणवे भाइयों को धन्य मानने लगे और स्वयं को पामर मानने लगे।

मंत्रियों ने भरतेश्वर को निवेदन किया, 'महाराज! आप किस लिए शोक कर रहे हैं? भगवान और आपके भ्रातागण ने जगत् में उत्कृष्ट से उत्कृष्ट स्थान प्राप्त किया है। आप चाहे जितना राज्य के ऊपर से मन अलग करें परन्तु यह राज्यधुरा सम्हालने जैसा इस समय कोई नहीं है, क्योंकि आपके भाइयों और राज्यधुरा सम्हाल सकने वाले सबने दीक्षा अङ्गीकार कर ली है। राजकुमार आदित्यशशा अभी तक बालक है। आप चित्त में से उद्विग्नता निकाल दें और राज्य-कार्य में चित्त लगायें।

भरतेश्वर ने शनैः शनैः शोक कम किया और वे निस्पृह भाव से राज्य-कार्य की देख-भाल करने लगे।

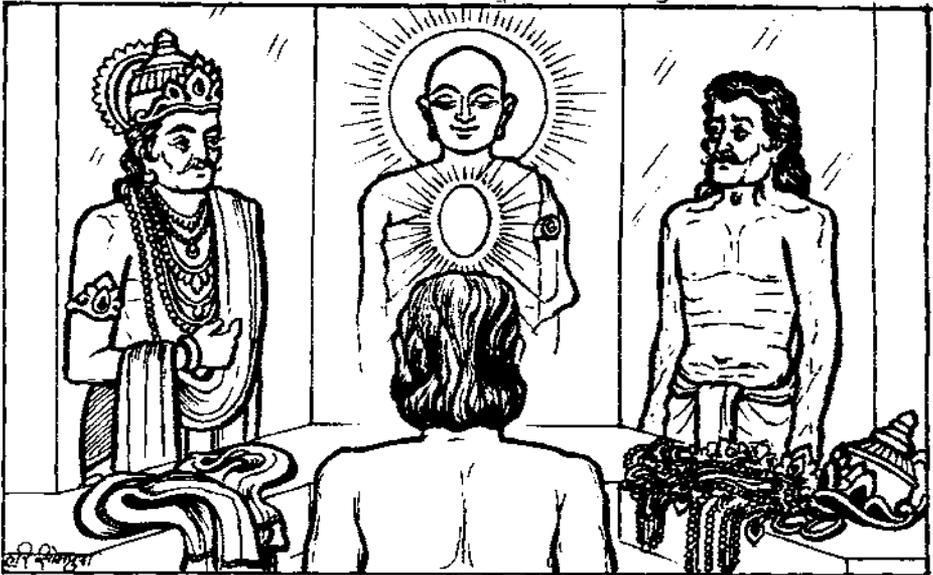
(१२)

प्रातःकाल का समय था। मन्द मन्द वायु से भरतेश्वर के राज-प्रासाद के तोरण मधुर संगीत का सृजन कर रहे थे। भरतेश्वर स्नान करके देह पर सुगन्धित द्रव्य लगा कर दुकूलों एवं रत्न-हीरों से जड़ित होकर अपना रूप निहारने के लिए आरीसा भुवन में गये।

सिर के बालों पर हाथ फिराते हुए आरीसा भुवन में अपना रूप निहारते हुए भरतेश्वर बोले, 'आयु यढ़ गई है फिर भी देह का दिखावा तो इन्द्र जैसा ही है। देह का तेज तो अच्छे अच्छों को चकाचौंध करे ऐसा है और ओज सबको चकित कर दे ऐसा है।' मुस्कराते हुए चक्रवर्ती ने परस्पर कंधों पर हाथ फिरा कर देह के समस्त अंग देखना प्रारम्भ किया। इतने में अचानक वृद्ध पति के हाथों से युवा पत्नि खिसक जाये उसी प्रकार रत्न-जड़ित अंगूठी अंगुली में से निकल पड़ी। भरतेश्वर अंगूठी को देखे उसकी

अपेक्षा उन्होंने अंगुली देखी तो अंगूठी रहित अंगुली अन्य अन्य अंगुलियों की अपेक्षा अटपटी प्रतीत हुई। भरतेश्वर ने एक एक करके समस्त आभूषण उतार दिये और अपने अंगों को निहारा तो घड़ी भर पूर्व जो सिर का मुकुट देख कर इन्द्र की तुलना करने की इच्छा हुई थी वह सिर देख कर उन्हें वे सर्वथा शोभा रहित प्रतीत हुए। वाजु बंध(भुजवन्ध), हार एवं मुकुट उतारने पर अपनी देह दुर्गच्छनीय प्रतीत हुई। चमड़ी की ओर भरतेश्वर ने दृष्टि डाली तो उन्हें ज्ञात हुआ कि उनका यौवन कृत्रिम था। यह चमड़ी तो मेरी वृद्धावस्था व्यक्त करती है और उसमें क्या है वह अब गुप्त नहीं है।

आभूषणों के द्वारा देह कब तक सुशोभित रहेगी? जब तक आभूषण हैं तब तक; उनके उतरते ही देह शोभा-विहीन हो जायेगी। उसी प्रकार से आत्मा के निकल जाने पर यह तथाकथित भरत कितने समय तक? उसे राज्यमहल में भी कोई नहीं रखेगा। उससे दुर्गन्ध निकलेगी। ये रानियाँ, यह वैभव और चक्रवर्ती की समस्त ऋद्धि क्या मेरी है? नहीं, यह आत्मा जाने पर वे सब अलग हो जायेंगे। मेरे चौदह रत्न और छियाणवे करोड़ गाँवों का आधिपत्य मुझे पुनः जाप्रत नहीं कर सकेंगे। मैं जहाँ जाऊँगा वहाँ वे साथ भी नहीं आवेंगे। मेरे साथ आयेगा कौन? आत्मा द्वारा की गई शुभ-अशुभ करनी। मेरी करनी तो विश्व-विख्यात है कि मैंने अपने भाइयों का राज्य छीन लिया है। छः खण्डों पर विजय प्राप्त करने में मैंने कोई कम पाप एकत्रित नहीं किये। मेरे पिताश्रीने केवलज्ञान और मोक्ष का मार्ग खोला और मैंने सचमुच अपने लिये पाप का मार्ग खोला। भाइयों ने कल्याण किया, वहनों ने मुक्ति प्राप्त की, पुत्रों ने राज्यों का परित्याग किया: मैं इनमें लिपटा रहा। अंगूठी जाने से अंगुली अटपटी है उसी प्रकार



भरतेश्वर आत्म-रमण की विचारधारा में गहरे-गहरे डूबते रहे और
आरीसा भवन में ही उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया.

आत्मा जाने पर यह देह और यह समृद्धि सब पराई है। भरतेश्वर आत्म-रमण की विचारधारा में गहरे-गहरे डूबते रहे और उन्हें आरीसाभुवन में ही केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

इन्द्र का आसन कम्पित हुआ। उसने उपयोग किया तो ज्ञात हुआ कि भरतेश्वर ने केवलज्ञान प्राप्त किया है। इन्द्र ने मुनिवेष प्रदान किया। भरतेश्वर ने पंच मुष्टि लोच किया और मुनि-वेष पहनकर भरतकेवली दस हजार मुनियों के साथ धरातल पर विचरने लगे।

अयोध्या के राज्य-सिंहासन पर आदित्ययश का अभिषेक हुआ। दीक्षा के पश्चात् एक लाख पूर्व तक भरतेश्वर जगत् में विचरते रहे और अनेक प्राणियों का उद्धार करके अपने नाम से भरतक्षेत्र को प्रसिद्ध करने वाले वे अनशन करके निर्वाण-पद को प्राप्त हुए।

(लघुत्रिपष्टिशलाका चरित्र से)

(२८)

तीन कदम अर्थात् विष्णुकुमार मुनि

(१)

उज्जयिनी के राजा वर्म को जैन धर्म के प्रति रुचि थी। उसके नमुचि नामक एक मंत्री था जो अत्यन्त ही बुद्धिमान एवं दूरदर्शी था, परन्तु उसे जैन धर्म के प्रति द्वेष था।

नगरी में सुव्रताचार्य का पदार्पण हुआ। राजा सपरिवार बन्दनार्थ गया। शर्म ही शर्म में नमुचि भी राजा के साथ वहाँ आया। लौटते समय उसने आचार्यश्री के साथ चर्चा चलाई कि ब्राह्मण पवित्र हैं और ये जैन साधु अपवित्र हैं। आचार्यश्री ने बताया कि जो ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं वे पवित्र हैं और जो ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करते वे अपवित्र हैं। इस प्रकार नमुचि ने जो चर्चा छोड़ी उस में उसे मुँह की खानी पड़ी।

नमुचि स्वभाव का क्रोधी और डंक रखने वाला था। चर्चा में अपना पराभव होने के कारण अर्द्ध रात्रि के समय उठ कर वह आचार्य को पीटने के लिए गया परन्तु शासनदेवी ने उसे स्तंभित कर दिया। उसकी सम्पूर्ण नगर में निन्दा हुई कि कैसा क्रूर एवं धर्म-द्वेषी मंत्री है।

नमुचि को अब उज्जयिनी में रहना उचित नहीं प्रतीत हुआ, जिससे एक रात्रि को वह किसी को कहे बिना ही नगरी छोड़ कर हस्तिनापुर चला गया।

(२)

उस समय हस्तिनापुर में पद्मोत्तर राजा का शासन था। राजा के विष्णुकुमार एवं महापद्म नामक दो पुत्र थे। नमुचि ने हस्तिनापुर में कदम रखते ही सिंहबल नामक एक शत्रु का पराभव किया। परिणाम स्वरूप वह महापद्म का प्रेमपात्र बन गया। महापद्म ने उसे उसी समय कहा कि, 'नमुचि! तू जो माँगे वह मैं तुझे देने के लिए प्रस्तुत हूँ।' उस समय तो नमुचि ने यही कहा कि अवसर आने पर देखूँगा। तत्पश्चात् वह नगर का मंत्री बन गया।

(३)

राजा पद्मोत्तर के दो रानियों थीं - ज्वालादेवी एवं लक्ष्मी। ज्वालादेवी को जैन

धर्म के प्रति राग था और लक्ष्मी का राग ब्राह्मण धर्म के प्रति था। हस्तिनापुर में आश्विन माह में रथयात्रा निकलती थी। ज्वालादेवी कहती कि रथयात्रा में मेरा रथ पहले रहे और लक्ष्मी कहती कि मेरा रथ पहले रहे। राजा ने यह छोटा विवाद बड़ा रूप न ले ले यह सोच कर रथयात्रा ही बन्द कर दी। यह बात महापद्म को उचित प्रतीत नहीं हुई जिससे वह हस्तिनापुर छोड़ कर परदेश चला गया।

महापद्म भविष्य में चक्रवर्ती बनने वाला था, अतः वह जहाँ गया वहाँ उसे राज्य-लक्ष्मी एवं विद्याधर कन्याएँ मिलीं। देखते ही देखते वह महा प्रतापी सिद्ध हुआ। पद्मोत्तर राजा ने उसे हस्तिनापुर बुलाया और उसकी इच्छानुसार सर्व प्रथम जैन-रथ आगे रख कर रथयात्रा निकाली।

(४)

कुछ समय के पश्चात् सुव्रताचार्य का हस्तिनापुर में आगमन हुआ। नमुचि तो उन्हें देखकर दुःखी हुआ परन्तु आचार्यश्री को उसके प्रति कोई द्वेष नहीं था। पद्मोत्तर राजा दीक्षित हो गया और विष्णुकुमार को राज्य सौंपने लगा परन्तु राज्य न लेकर विष्णुकुमार दीक्षित हो गया।

दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् विष्णुकुमार ने उपवास पर उपवास करने प्रारम्भ किये और उन्हें अनेक लब्धियाँ प्राप्त हुईं। विष्णुकुमार को आकाशगामिनी लब्धि प्राप्त थी। इसके कारण वे मेरु पर्वत की चूलिका पर रहते थे और वहाँ के शाश्वत मन्दिरों के दर्शन करके भाव-विभोर होते थे।

पद्मोत्तर के दीक्षित होने के पश्चात् महापद्म हस्तिनापुर का राजा बना और चौदह रत्न प्राप्त होने पर वह चक्रवर्ती बन गया। चक्रवर्ती पद पर रहते हुए उसने धर्म के अनेक कार्य कराये फिर भी राज्य में पूर्व मंत्री नमुचि का वर्चस्व अधिक था।

(५)

महापद्म की धर्म के प्रति निष्ठा एवं हस्तिनापुर केन्द्र में होने से सुव्रताचार्य यहाँ पुनः शिष्या सहित आये। इन्हें देखते ही नमुचि को मुनि से शत्रुता निकालने की इच्छा हुई। उसने महापद्म द्वारा पूर्व में दिये गये वरदान के बदले में अल्प काल के लिए चक्रवर्ती का पद प्रदान करने की माँग की। महापद्म ने नमुचि को राज्य का सम्पूर्ण संचालन सौंप दिया और स्वयं राज्य-कार्य से निवृत्त होकर अन्तःपुर में रहा।

राज्य का सम्पूर्ण अधिकार अपने हाथ में आने पर नमुचि ने हिंसात्मक महा यज्ञ प्रारम्भ किया। उसमें आशीर्वाद देने के लिए अन्य समस्त धर्म-गुरु आये परन्तु सुव्रताचार्य नहीं आये। इस अपराध के वहाने नमुचि ने उन्हें बुलावाया और कहा,

‘महाराज! इस समय मैं राजा हूँ। मैं यज्ञ कर रहा हूँ उसमें सवने आशीर्वाद प्रदान किये और मेरे इस कार्य की सवने प्रशंसा की, परन्तु तुमने क्यों कुछ नहीं किया?’

गुरु बोले, ‘हिंसा की हम प्रशंसा क्यों करें? इस यज्ञ में हिंसा हो रही है। हम उस हिंसा से दूर हैं।’

नमुचि ने कहा, ‘महाराज! जिस राज्य में यज्ञ हो राज्य में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को उस राजा और उसके धर्म का अनुकरण करना पड़ता है। यह यज्ञ है, इसका अनुसरण न करना हो तो चले जाओ।’

सुव्रताचार्य ने कहा, ‘इस समय हमारा यहाँ वर्षावास होने से हम अन्यत्र कैसे जा सकते हैं?’

‘महाराज, मैं कुछ नहीं जानता। सात दिनों में हस्तिनापुर और उसकी सीमा खाली करो। सातवें दिन यदि तुम में से किसी को भी देखा तो एक भी जीवित नहीं बचेगा यह स्मरण रखना।’ क्रोध में आग बवूला होते हुए नमुचि ने कहा।

(६)

सुव्रताचार्य एवं शिष्यों ने विचार किया कि सर्वत्र नमुचि का शासन है। सात दिनों में कहाँ जायें? एक लब्धिवन्त साधु को मेरु पर्वत पर विराजमान विष्णुकुमार के पास भेजा। विष्णुकुमार आकाशमार्ग से हस्तिनापुर आये। अनेक वर्षों के पश्चात् हस्तिनापुर का उत्तराधिकारी सर्व प्रथम नगर में आया जान कर प्रजा, धनवानों और अन्य राजाओं



नीच नमुचि ने मुनियों से कहा - राजा के धर्म का अनुकरण करना, राज्य में रहने वालों की फरज है! यदि स्वीकार नहीं है तो इस देश से चले जाओ!

ने उनका सम्मान किया, परन्तु नमुचि ने उनके सामने तक नहीं देखा।

विष्णुकुमार बोले, 'राजन् नमुचि! ये मुनि वर्षाकाल में कहाँ जायें?'

'मैं कुछ नहीं समझता। उन्हें सात दिनों में मेरे राज्य की सीमा छोड़ देनी चाहिये। जो राज्य-कर्त्ता का अनुसरण नहीं करना चाहते, उन्हें उसके राज्य में रहने का क्या अधिकार?' नमुचि उद्वेगता पूर्वक बोला।

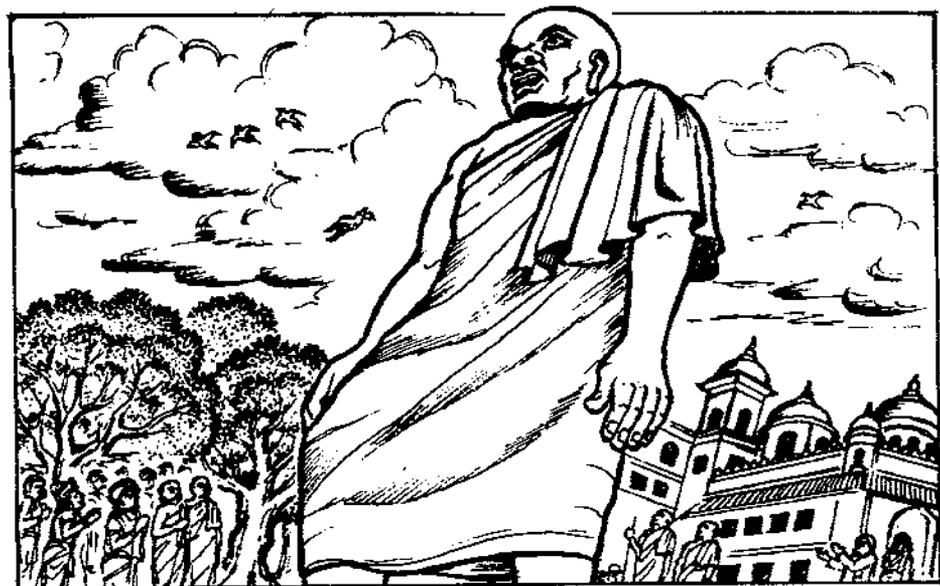
विष्णुकुमार तनिक उग्रता से बोले, 'चातुर्मास में साधु जायें कहाँ? तीन कदम जितनी खड़े रहने की जगह तो दोगे या नहीं?'

नमुचि बोला, 'अच्छा, मैं तीन कदम भूमि प्रदान करता हूँ, परन्तु स्मरण रहे कि तीन-कदमों से बाहर किसी साधु को देखा तो मैं जीवित नहीं छोड़ूँगा उसे।'

विष्णुकुमार ने कहा, 'स्वीकार है।'

'तो नाप लो अपनी तीन पग भूमि।' नमुचि ने विष्णुकुमार को दवाते हुए कहा।

विष्णुकुमार तुरन्त एक लाख योजन की देह बना कर और एक पाँव जंबूद्वीप के इस किनारे और दूसरा पाँव दूसरे किनारे पर रख कर बोले, 'नमुचि! बोल तीसरा पाँव कहाँ रखूँ? क्या तेरे सीने पर रखूँ?' देव, दानव सथ विष्णुकुमार की लाख योजन देह देख कर काँप उठे। इन्द्र का सिंहासन हिल गया। देवलोक के नृत्यारंभ बन्द हो गये। महापद्म राजा अन्तःपुर में से भागा हुआ आया और दीनता पूर्वक बोला, 'महामुनि! आप अपना विराट रूप समेट लें यह अपराध नमुचि का नहीं परन्तु भगवन्!



एक लाख योजन का वैकिय शरीर बनाकर नमुचि से विष्णुकुमार मुनि ने कहा -
एक पाँव जंबूद्वीप के इस पार, दूसरा उस पार, और अब तीसरा कहाँ पर रखूँ?

यह अपराध आपके अनुज महापद्म का है, जिसने अपात्र मंत्री पर इतना अधिक विश्वास किया।'

विष्णुकुमार ने मुनियों तथा संघ की ओर दृष्टि डाली तो उन्हें ज्ञात हुआ कि संघ यह रूप समेट कर क्षमा प्रदान करने का कह रहा था। विष्णुकुमार ने रूप समेट लिया। नमुचि भूमि पर ही नहीं कुचला गया परन्तु वहल कर्मी बन कर घोर पाप में कुचला गया और विष्णुकुमार तीन कदमों से त्रिविक्रम कहलाये।

हस्तिनापुर ने इस प्रसंग को जीवन-मरण का यह प्रसंग अनुभव किया। उन्हें लगा कि विष्णुकुमार का क्रोध समेटा न गया होता तो हस्तिनापुर का चिह्न तक शेष नहीं रहता और साथ ही साथ नमुचि के अत्याचारों से भी विष्णुकुमार का आगमन न होता तो उससे मुक्ति प्राप्त नहीं हो पाती। इस प्रकार दोनों कारणों से दूसरे दिन हस्तिनापुर में प्रणाम करने की प्रवृत्ति चली और वह दिन मांगलिक रूप माना गया।

तत्पश्चात् पद्मोत्तर ने हस्तिनापुर का राज्य सम्हाला और वह भी पुत्र को राज्य सौंप कर दीक्षित हो कर मोक्ष में गये। नमुचि साधु को विडम्बना देने के कारण क्रोध से आग बबूला होता हुआ नरक में गया।

(त्रिषष्टिशलाका - उपदेश प्रासाद से)

(२९)

चार नियमों से ओत प्रोत बंकचूल की कथा

(१)

बंकचूल का मूल नाम पुष्पचूल था, परन्तु यह पुष्पचूल लोगों को सताता और टेढ़े (कुटिल) कार्य करता जिससे इसका नाम बंकचूल पड़ा। बंकचूल ढींपुरी नगरी के राजा विमलयशा का पुत्र था। इसके पुष्पचूला नामक एक बहन भी थी। इन दोनों भाई-बहन को एक दूसरे के प्रति अत्यन्त प्रेम था।

एक बार दरवार में नगर के अग्रगण्य नायक आये और बोले, 'महाराज! कोई सामान्य व्यक्ति का पुत्र हो तो उसे कोई उपालम्भ भी दिया जाये और कुछ दण्ड भी दिया जाये। यह तो राजकुमार पुष्पचूल है। नित्य उत्पात करे तो कैसे सहन हो? हम सहन कर सके तब तक तो सहन किया, परन्तु अब हम अत्यन्त तंग हो गये जब आपके समक्ष शिकायत कर रहे हैं।'

राजा ने नगर-निवासियों को उचित कार्यवाही करने का कह कर विदा कर दिया। उसने तुरन्त पुष्पचूल को बुलाकर कहा, 'पुष्पचूल! तेरी शिकायतें दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं। तेरा नाम पुष्पचूल है फिर भी नित्य तेरे टेढ़े-मेढ़े कार्यों के कारण तू बंकचूल के नाम से जाना जाता है। प्रजा की रक्षा में रुकावट बनने वाले किसी को भी दण्ड देना राजा का कर्त्तव्य है। उसमें पुत्र हो अथवा कोई अन्य कोई भेद नहीं रखा जाता। मैंने तुझे अनेक बार समझाया है फिर भी तू नहीं मानता। अब तो ठीक तरह से रह सकता हो तो यहाँ रह, अन्यथा यहाँ से चला जा। मुझे ऐसा पुत्र नहीं चाहिये। मैं पुत्र के अभाव में जी लूँगा, परन्तु राज्य की प्रतिष्ठा मिट्टी में मिलने नहीं दूँगा।'

बंकचूल मूक बन कर यह सब सुनता रहा, परन्तु फिर अल्प समय में ही ढींपुरी नगर को छोड़ देने की उसने तैयारी कर ली। उसके पीछे उसकी छोटी बहन और पत्नी भी जाने के लिए तत्पर हो गई। राजा विमलयश ने मन मजबूत किया और बंकचूल के पीछे जिसे जाना था उन सबको जाने दिया।

(२)

बंकचूल राजपुत्र था, धनुर्धारी था और पराक्रमी था। वह एक लुटेरों के एक दल में सम्मिलित हो गया और कुछ ही दिनों में तो वह उन लुटेरों का नायक बन गया। उसने एक सिंहगुहा नामक पल्ली में अपना छोटा सा राज्य स्थापित किया।

एक बार एक आचार्य विहार करते-करते जंगल में भटक गये। इतने में वर्षावास का समय निकट आ गया। साधु-मुनि वर्षाकाल में विहार कर नहीं सकते, अतः वे इस सिंहगुहा नामक पल्ली में आये और उन्होंने बंकचूल से वर्षावास के लिए स्थान

की याचना की।

वंकचूल ने कहा, 'महाराज! यहाँ स्थान का अभाव नहीं है, परन्तु हमारा धंधा चोरी का है और साथ ही साथ समस्त पाप-व्यापार का धंधा है। आप यहाँ रह कर हमारे मनुष्यों को धर्मोपदेश देकर उनके मन में परिवर्तन कर दें तो मेरी पल्ली टूट जायेगी। मैं एक शर्त पर आपको वर्षावास के लिए रख सकता हूँ कि आप यहाँ रहें, धर्म-कार्य करें परन्तु धर्म का उपदेश तनिक भी न दें।' आचार्य ने कहा, 'मुझे शर्त स्वीकार है, तुम्हें भी यह प्रण पालन करना होगा कि जब तक हम यहाँ रहें तब तक हमारे आसपास हिंसा न हो।'

'अवश्य महाराज, इतना विवेक हम रखेंगे।' कह कर वंकचूल ने आचार्य को वर्षावास के लिए रखा।

समय व्यतीत होने में थोड़ा विलम्ब लगता है? वर्षाकाल व्यतीत हुआ और मुनि तो कमर कस कर विहार पर रवाना हो गये।

पल्ली के सब मनुष्य और वंकचूल पल्ली से तनिक दूर तक महाराज को पहुँचाने गये। पल्ली की सीमा पूर्ण होने पर वंकचूल एवं उसके मनुष्य रुक गये। वंकचूल ने आचार्यश्री को कहा, 'महाराज! अब हम अलग होते हैं, अतः आपको जो कुछ उपदेश देना हो वह दीजिये।'

आचार्य बोले, 'वंकचूल! तेरी इच्छा हो और तुझे ठीक लगे तो हमारे मिलाप की स्मृति के निमित्त मैं तुम्हें कुछ नियम देना चाहता हूँ।'

'सहर्ष दीजिये, परन्तु आप मेरी स्थिति का ध्यान रखना। मैं चोरी करना बन्द नहीं करूँगा और चोरी करने में मुझमें हिंसा रुक नहीं सकती। आप तो जैन माधु



गीतार्थ आचार्य भगवत, वंकचूल से बाल-नेत्र आत्मकल्याण के लिए नू पालन कर मके वयं नियम देना चाहता हूँ - "वंकचूल ने दोनों हाथ जोड़कर कहा स्वीकारता हूँ" आपका उपकार कभी नहीं भूलूँगा.

हैं अतः पहले ही हिंसा नहीं करनी, असत्य नहीं बोलना, चोरी नहीं करना आदि कहेंगे। इनमें से कुछ भी आप मुझे मत कहना' वंकचूल ने स्पष्ट करते हुए कहा।

'वंकचूल! धर्मोपदेश देने वाला साधु अगले व्यक्ति की योग्यता-अयोग्यता समझ कर कुछ कहता है। तू पालन कर सके ऐसे ही तुझे मैं चार नियम देता हूँ। १. तुझे कोई भी अनजान फल नहीं खाना, २. किसी पर प्रहार करना पड़े तो पाँच-सात कदम पीछे हट कर करना, ३. किसी भी राजा की रानी के साथ विषय-भोग नहीं करना और ४. कौए का माँस नहीं खाना।'

आचार्य इतना कह कर मौन रहे। वंकचूल तनिक विचार में पड़ गया, 'खाने की सब छूट है, परन्तु अनजान फल नहीं खाने का ही नियम है। इसमें क्या बुरा है? अनजान फल से किसी दिन मारे जा सकते हैं। चोरी करने में हिंसा करनी पड़े उसका कोई निषेध नहीं है। केवल प्रहार करना हो तो पाँच-सात कदम पीछे हट कर प्रहार करना है। यह तो ठीक है। विचार करने का समय मिलेगा। रानी के साथ विषय-भोग नहीं करने का नियम ग्रहण करना भी क्या बुरा है? इससे तो उग्र शत्रुता नहीं होती। निन्दनीय कौए का माँस क्यों खाना पड़े?'

वह बोला, 'महाराज! चारों नियम मैं स्वीकार करता हूँ। ये नियम मैं अवश्य पालन करूँगा।' नियम ग्रहण करते समय वंकचूल गुरु महाराज के समीप आया और गुरु महाराज ने भी माना कि जंगली पल्ली का वर्षावास (चातुर्मास) भी उपकारक सिद्ध हुआ है। ऐसा छोटा नियम आज होगा तो कल स्वतः ही यह बड़े नियम में आयेगा।

(३)

एक वन की घनी झाड़ी में चार लुटेरे बैठे थे। उनके सामने स्वर्ण, हीरे, मोती एवं जवाहरात के ढेर पड़े थे। इन चारों लुटेरों में एक वंकचूल था। उसने साथी लुटेरों से कहा, 'इस स्वर्ण और इन हीरों को कोई काट कर नहीं खाया जा सकता। कुछ खाने के लिए लाओ। जोर की भूख लगी है।'

साथी वन में इधर-उधर फिरे और सुन्दर, सुकोमल, दिखने में अच्छे लगने वाले फल ले आये। ये फल सुन्दर थे, उनकी सुगन्ध भी मोहक थी और खाने वालों को जोर की भूख भी लगी थी। वे चारों साथी खाने बैठे तब वंकचूल बोला, 'रूको, इस फल का नाम क्या है?' तब कोई, 'पपीते जैसा प्रतीत होता है, परन्तु पपीता तो नहीं है।' दूसरा बोला, 'यह तो जंगल की ककड़ी प्रतीत होती है।' तीसरे ने कहा, 'नहीं नहीं, यह तो समस्त फलों से सुन्दर होने के कारण अमृतफल-अमरफल होगा।' वंकचूल ने कहा, 'यह बात नहीं है, मैं अनजान, अपरिचित फल नहीं खाता, अतः मैं नहीं खाऊँगा।' दूसरों ने कहा, 'तुम्हें नहीं खाना हो तो कोई बात नहीं, हम तो खायेंगे।'

तीनों साथी वे फल खा गये और कुछ ही समय में उनके नेत्रों में मादकता छा गई और एक एक करके उन तीनों की वहीं पर मृत्यु हो गई। तत्पश्चात् वंकचूल को पता लगा कि यह किंपाक फल है जो देखने में सुन्दर है परन्तु खाने पर तुरन्त प्राण हर लेता है।

वंकचूल को उस समय आचार्य भगवन् का स्मरण हुआ। कैसे उपकारी पुरुष हैं! कैसा श्रेष्ठ नियम दिया कि अनजान फल नहीं खाना, परन्तु मेरे लिए तो यह नियम प्राण-रक्षक सिद्ध हुआ। वंकचूल बोला - 'धन्य है, ऐसे उपकारी गुरु!

(४)

ठीक मध्यरात्रि का समय था। घने वन में पल्ली के मध्य वंकचूल की कुटिया थी। जब उसने कुटिया में प्रवेश किया तो पलंग पर उसने अपनी पत्नी को किसी पर-पुरुष के साथ गहरी नींद में सोई हुई देखा। देखते ही वंकचूल की भौंहें तन गईं। उसने म्यान में से तलवार निकाली और एक ही प्रहार में दोनों का अन्त करने का विचार किया। उस समय उसे गुरुदेव द्वारा दिया गया सात कदम पीछे हटने का नियम स्मरण हुआ। वह सात कदम पीछे हटा। इतने में खुली रखी हुई तलवार दीवार से टकराई तो वह पलंग पर सोया हुआ पुरुष तुरन्त बैठ गया और बोला, 'यह कौन है?'

तलवार ज्यों की त्यों हाथ में रह गई और वंकचूल बोला, 'वहन पुष्पचूला! तूने क्यों यह पुरुष का वेष पहना है?'

पुष्पचूला ने कहा, 'भाई! आज पल्ली में नटों का खेल था, अतः मैं तेरे वस्त्र पहन कर खेल देखने गई थी। आई तब थक कर चूर हो गई थी। अतः ऐसे ही भाभी के साथ पलंग पर सो गई। इसमें मैंने क्या बुरा किया है जो तुम तलवार लिये लाल-पीले हो रहे हो?'

'वहन, जो हुआ वह अच्छा हुआ, अन्यथा तू और तेरी भाभी दोनों में से आज एक भी जीवित नहीं रहती। मैं तो तुझे पर-पुरुष मानकर दोनों का एक ही प्रहार में काम तमाम कर देता, परन्तु मुझे मुनिवर के दिये हुए नियम स्मरण होने के कारण सात कदम पीछे हटा तब मेरी तलवार दीवार से टकराने की आवाज सुन कर तू जग गई और तेरा स्वर पहचान लिया।'

'वहन! कैसे उपकारी महाराज! यदि यह नियम न होता तो मैं तेरा हत्यारा बनता और आजीवन इस पाप का प्रायश्चित्त करके मरता। सचमुच, मुनिवर पूर्ण वर्षावास में रहे तब उनका प्रवचन सुना नहीं। यदि पहले यह पता होता तो मुनिवर का लाभ लिये विना रहता ही नहीं!'

(५)

दिन व्यतीत होते गये। बंकचूल अब चोरी आदि करता था फिर भी उसे गुरुदेव द्वारा दिये गये नियमों पर अटूट श्रद्धा थी। इस बीच में उन आचार्यश्री के शिष्य वहाँ होकर निकले। बंकचूल ने उन्हें आग्रह पूर्वक रोका और कहा, 'भगवन्! आप मेरे सच्चे उपकारी हैं। आप द्वारा दिये गये नियम नहीं होते तो मैं कहीं का नहीं रहता।'

गुरु ने कहा, 'भाग्यशाली! जिनशासन का प्रभाव उत्तम है। तुम्हारी पल्ली का स्थान सुन्दर है। यहाँ तुम एक सुन्दर जिनालय का निर्माण कराओ तो उसकी शीतल छाया से तुम्हारा कल्याण होगा।'

बंकचूल के पास धन का अभाव नहीं था। उसने भव्य जिनालय का निर्माण कराया जिसमें भगवान महावीर की भव्य प्रतिमा प्रतिष्ठित की। कुछ ही समय में वह स्थान एक तीर्थ यात्रा-स्थल बन गया।

एक बार चर्मणवती नदी में नाव में बैठ कर एक वणिक् एवं उसकी पत्नी यात्रा करने आये। दूर से जिनालय का शिखर देख कर उसकी पत्नी स्वर्ण-कटोरी में चन्दन आदि लेकर तीर्थ की अर्चना करने लगी। इतने में कटोरी हाथ में से छूट कर नदी में गिर पड़ी।

वणिक् बोला, 'भद्रे! बहुत बुरा हुआ। यह कटोरी हमारी नहीं थी। यह तो राजा



बंकचूल ने अपनी लक्ष्मी एवं ऐश्वर्य को सफल बनाने के लिए परलोक में भी धर्म प्राप्ति के लिए भव्याति-भव्य जिनामंदिर बनवाया, भव्य जिनमूर्ति की उपकारी आचार्य भगवंत द्वारा प्रतिष्ठा करवाई.

की हमारे घर अमानत रखी हुई थी। वह सामान्य सोने की नहीं थी। उसमें गुप्त रूप से रत्न जड़े हुए थे। अब जब राजा माँगेगा तब क्या उत्तर देंगे?’

खलासी ने यह बात सुन ली और उसने तुरन्त नदी में डुबकी लगाई। कटोरी की खोज की तो वह नदी में पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा की गोद में पड़ी थी। खलासी उसे बाहर निकाल लाया और लाकर वणिक् को दे दी। नाव सामने के तट पर आ गई। वणिक् दम्पति नें जिनालय में पूजा-अर्चना-भक्ति की। उस समय खलासी ने वंकचूल को यह सब बात बताते हुए कहा कि ‘नदी में पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा है।’ वंकचूल अत्यंत प्रसन्न हुआ। उसने खलासी को बहुत पुरस्कार देकर उसके द्वारा पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा बाहर निकलवाई और उसे स्वयं द्वारा निर्मित जिनालय के वाह्य मण्डप में रखवा दिया। नूतन जिनालय का निर्माण प्रारम्भ हुआ। जिनालय बन कर तैयार हो गया। प्रतिष्ठा के समय उस बाहर रखी प्रतिमा को उठाने लगे तो प्रतिमा नहीं उठी। अतः उस प्रतिमा को वहीं रहने दिया और आज भी वह वहीं रखी हुई है।

वंकचूल को जानने की जिज्ञासा थी कि यह पार्श्वनाथ की प्रतिमा नदी में कहाँ से आई और यहाँ किसने रखी होगी? उसने एक बार सभा में भी प्रश्न पूछा कि ‘इस प्रतिमा का कोई वृत्तान्त जानता हो तो बताये।’

एक वयोवृद्ध खलासी ने कहा, ‘पहले एक प्रजा-पालक राजा था। जब वह युद्ध करने के लिए संग्राम-भूमि में गया तब उसकी रानी को लगा कि राजमहल में रहने में खतरा है। अतः एक स्वर्ण-रथ और दो प्रतिमा लेकर चर्मणवती नदी के मध्य में उसने निवास किया। रानी नित्य जिनेश्वर भगवान की प्रतिमा की पूजा करती थी, परन्तु उसने अचानक सुना कि युद्ध में राजा का देहान्त हो गया है जिससे रानी को अत्यन्त दुःख हुआ और वह रथ एवं प्रतिमाओं सहित नदी में कूद पड़ी। अन्त में शुभ अध्यवसाय के कारण इस प्रतिमा के अधिष्ठायक देव के रूप में उत्पन्न हुई है। वंकचूल! यह पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा नदी में से निकली है परन्तु अभी नदी में एक अन्य प्रतिमा तथा स्वर्ण-रथ होना चाहिये।’

वंकचूल ने स्थान-स्थान पर खलासियों को नदी में उतारा परन्तु दूसरी प्रतिमा एवं रथ उनके हाथ नहीं आया। वंकचूल कभी कभी उसमें नाट्यारंभ सुनता जिससे सम्पूर्ण पल्ली गूँज उठती थी और वह प्रतिमा को देखता इतने में तो सब अदृश्य हो जाता।

वंकचूल उस जिनालय का परम पूजक एवं उपासक बना। तीर्थ तो भगवान महावीर स्वामी का था, परन्तु वाह्य मण्डप में रखी हुई पार्श्वनाथ की प्रतिमा महावीर स्वामी की प्रतिमा से लघु होने से लोगों ने उसका चेल्लण-वालक पार्श्वनाथ नाम रखा। इसलिये समय व्यतीत होते होते उक्त तीर्थ चेल्लण पार्श्वनाथ के नाम से विख्यात हुआ।

वाद में बंकचूल की पल्ली के स्थान पर एक विशाल नगरी बसी। वह स्थान अत्यन्त समृद्धिशाली यात्रा-स्थल बना। वहाँ दूर दूर से संघ यात्रार्थ आने लगे और चर्मणवती नदी के तट पर 'चैल्लण पार्धनाथ तीर्थ' अत्यन्त विख्यात हुआ।

(६)

धीरे धीरे बंकचूल एक महान् लुटेरे के रूप में विख्यात हुआ। पहले तो वह छोटे छोटे गाँवों को ही लूटता था, फिर वह बड़े गाँव और कस्बे लूटने लगा और फिर तो शहरों में बड़े बड़े भवनों में लूट करता, चोरी करता और भाग जाता। फिर भी उसका हृदय तो कोमल ही था।

एक रात्रि में उज्जयिनी के राजा के शयनागार में महल की पिछली खिड़की से चन्दन गो की सहायता से प्रविष्ट हुआ। उसने वहाँ से हीरे, मोती और स्वर्ण के आभूषण उठाये। इतने में रानी ने उसे देख लिया और उसे पूछा, 'कौन है और यहाँ क्यों आया है?'

बंकचूल ने कहा, 'मैं चोर हूँ और यहाँ चोरी करने के लिए आया हूँ।' रानी उसका यौवन एवं मोहक रूप देख कर मुग्ध हो गई। उसने शोर-गुल करके उसको पकड़वाना नहीं चाहा। उसने उसे कहा, 'चोर, तू सुख से धन लेजा। मैं तुझे बचा लूँगी, परन्तु तू अपनी जवानी का लाभ मुझे प्रदान करता जा।'

बंकचूल ने कहा, 'आपकी सब बातें सत्य हैं, परन्तु आप कौन हैं?'

वह स्त्री बोली, 'राजमहल में ऐसी स्त्री कौन होगी? राजरानी।'

'तो आप मेरी माता हैं, राजरानी के संग विषय-भोग मेरे लिए उचित नहीं है।'

रानी ने कहा, 'तू कहाँ खड़ा है और किसके पास खड़ा है, उसका क्या तुझे पता है? यदि तू मुझे अपने यौवन से तृप्त करने में आनाकानी करेगा तो उसका क्या परिणाम होगा, क्या तूने सोचा है?'

बंकचूल ने कहा, 'मैं सब जानता हूँ कि मैं यदि आपकी इच्छानुसार कार्य नहीं करूँगा तो आप मुझे बन्दी बना कर कारागार में डलवा देंगी और आप इससे भी अधिक करेंगी तो मुझे फाँसी लगवा देंगी।'

रानी समझ गई कि यह चोर मेरे वश में नहीं होगा। अतः उसने अपने हाथों अपने वाल बिखेर दिये और 'चोर-चोर कह कर चिल्लाई। चारों ओर से सन्तरी भागे आये और उन्होंने बंकचूल को बन्दी बना लिया।

प्रातः बंकचूल को राजा के समक्ष प्रस्तुत किया गया। राजा ने पूछा, 'तू कौन है और राजमहल में क्यों आया था?'

बंकचूल ने कहा, 'मैं चोर हूँ और महल में चोरी करने के लिए आया था। रानी

ने अचानक मुझे देख लिया और बन्दी बनवाया।'

सभाजनों ने माना कि अभी इसे फाँसी का दण्ड सुनाया जायेगा क्योंकि चोरी का सामान उपस्थित है, चोरी करने वाला चोरी करने की बात स्वीकार करता है। इतने में सबके आश्चर्य के मध्य राजा ने उसके बन्धन खोल दिये और उसे अपने सिंहासन के समीप विठाया क्योंकि उस घटना को समीप के कक्ष में से राजा ने अपने कानों से सुन लिया था।

राजा को वंकचूल की खानदानी के प्रति सम्मान हुआ कि जिसने मरणान्त दण्ड होने पर भी रानी का दोष नहीं बताया। राजा जय रानी का वध करने लगा तब वंकचूल ने उसे छुड़वाया और कहा, 'राजन्! सम्पूर्ण विश्व विषयों के वश में है, उनमें से जो वच जायें वे भाग्यशाली हैं।'

अब वंकचूल लुटेरा नहीं रहा था। वह उज्जयिनी का राजमित्र बन गया था। गुरु महाराज के पास ग्रहण किये हुए नियम जीवन-रक्षक एवं जीवन को उन्नत करने वाले सिद्ध हुए थे। वह अपने नियमों पर अटल था।

(७)

वंकचूल उज्जयिनी के राजप्रासाद में शय्या पर पड़ा था। उसको तीव्र पीड़ा हो रही थी। राजा, अमात्य एवं वैद्य उसके आसपास बैठे थे। अनेक उपचार किये जा रहे थे परन्तु उसकी पीड़ा वैसी ही बढी हुई थी। उस समय उसकी नाड़ी हाथ में लेकर एक वृद्ध वैद्य ने कहा, 'राजन्! युद्ध में शस्त्रों के प्रहारों से घायल हुए हैं। शस्त्र के घाव पर यदि कौए का माँस दिया जाये तो उसे निश्चित लाभ होगा।'

वंकचूल बोला, 'वैद्यराज! लाभ होने का कोई अन्य औषध हो तो बताओ, अन्यथा मैं कौए का माँस कदापि नहीं खाऊँगा। क्योंकि मेरे कौए का माँस नहीं लेने का नियम है, मेरे लिए उसका निषेध है।'

राजा ने कहा, 'तेरी वेदना मृत्यु लाने वाली है। वैद्यों के पास इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। नियम में अमुक छूट रखनी पड़ती है। तुझे अपनी इच्छा से थोड़े ही खाना है? यह तो रोग मिटाने के लिए खाना पड़ रहा है।'

'मृत्यु आ जायेगी तो हँसते-हँसते स्वीकार करूँगा, उसका स्वागत करूँगा, परन्तु मैं अपना नियम तो भंग नहीं करूँगा। गुरुदेव द्वारा दिये गये नियमों में से तीन नियमों से मेरी काया पलट हो गयी है, मेरा सम्पूर्ण जीवन परिवर्तित हो गया और मुझे अपार लाभ हुआ है' - वंकचूल ने अपना निर्णय व्यक्त किया।

राजा ने विचार करके देखा कि वंकचूल को कौन समझा सकता है? उसकी दृष्टि जिनदास की ओर गई। जिनदास वंकचूल का धर्म मित्र था। राजा ने सोचा कि उसे

बुलाकर समझाये कि तू वंकचूल को कह कि, 'इस समय तू कौए का माँस खा ले, स्वस्थ होने पर प्रायश्चित्त कर लेना।' सेवक जिनदास को बुलाने के लिए गया और इधर राजा नियम पर अटल वंकचूल की अडिगता का हृदय से अनुमोदन करता रहा।

राजमहल में आते समय जिनदास ने मार्ग में दो युवतियों को सिसक-सिसक कर रोती देख कर पूछा, 'तुम क्यों रो रही हो?'

वे दोनों बोली, 'जिनदास! हम अपने भाग्य को रो रही हैं।'

'क्यों?' जिनदास ने पूछा।

युवतियों ने कहा, 'हम सौधर्म देवलोक की दो देवियाँ हैं। वंकचूल आज इस स्थिति में है कि यदि वह कौए का माँस खाये बिना मर जाये तो सौधर्म देवलोक में देव बने और हमारा पति बने, परन्तु आप जाकर उसे यदि कौए का माँस खिलायेंगे तो उसे वह गति प्राप्त नहीं होगी और हम भटक जायेगी।'

जिनदास बोला, 'तुम निश्चिन्त रहो। मैं 'जिन' का दास उसे ब्रतों का पालन करने में सहायता करूँगा, ब्रत भंग करने में नहीं।'

देवियाँ प्रसन्न हुई। जिनदास राजमहल में गया। वंकचूल को कौए का माँस खिलाने के लिए चर्चा चल रही थी। इतने में जिनदास ने जाकर राजा को कहा, 'राजन्! नियमों पर अटल वंकचूल को हम उसके नियमों के पालन में बाधा क्यों करें? आज नहीं तो कल भी मरना तो है ही, तो वंकचूल अपने नियमों का पालन करके लोगों में ख्याति प्राप्त करे और जिसका आलम्बन लेकर लोगों का उद्धार हो उस मार्ग पर उसे क्यों न जाने दें? वंकचूल! तुम अपने नियमों पर दृढ़ रहो। तुमने चाहे जितनी चोरी की, चाहे जितनी हिंसा की और आज तक तुमने चाहे जैसे पाप किये, फिर भी गुरु महाराज से लिये हुए साधारण चार नियमों का भी दढ़ता पूर्वक पालन करने से तुमने अपना जीवन धन्य किया है। तुम अपने नियमों पर अटल रहो। बोलो वंकचूल! अरिहन्त का शरण, बोलो वंकचूल! उन धर्म-नियम देने वाले गुरु का शरण।'

वंकचूल की भावना में अत्यन्त वृद्धि हुई। उसने हाथ जोड़े। वह बोला, 'अरिहन्त का शरण, महा उपकारी गुरु भगवन् आपका शरण, और हे प्रभु! आप द्वारा प्रदत्त धर्म का शरण मुझे भव-भव में हो।' यह बोलते-बोलते उसके प्राण पंखेरू उड़ गये। राजा, अमात्य, प्रजाजन शोकाकुल हो गये परन्तु वंकचूल मुस्कराता हुआ बारहवें देवलोक में चला गया।

राजमहल में से जिनदास वंकचूल के धन्य जीवन के सम्बन्ध में विचार करता हुआ पुनः लौट रहा था तब वहाँ पुनः दो स्त्रियाँ उसने रोती हुई देखीं।

जिनदास ने कहा, 'देवियों! वंकचूल की मृत्यु हो गई। तुम्हारे कथनानुसार उसने माँस नहीं खाया। वह देवलोक में गया होगा। अब क्यों रो रही हो?'

देवियाँ बोली, 'जिनदास! हम अपने स्वार्थ को रो रही हैं। पहले इसलिए रो रही थीं कि यदि वह माँस भक्षण करेगा तो नीच गति में जायेगा और हम उसके समान उत्तम नाथ से वंचित रहेगी। अब हम इसलिये रो रही हैं कि वह आराधना से इतना अधिक ऊँचा चला गया कि हमारा सौधर्म देवलोक छोड़ दिया परन्तु सीधे बारहवें देवलोक में जा बैठा। जिनदास! हमारे लिए तो उसका वियोग ही रहा।

इस प्रकार 'चेल्लण पार्थनाथ तीर्थ' की ख्याति करनेवाला वंकचूल सामान्य गिने जाने वाले चार नियमों का दृढ़ता पूर्वक पालन करके जीवन में अनेक पाप करने पर भी उन सबकी आलोचना लेकर उच्च गति में गया; तो फिर हृदय पूर्वक धर्म समझ कर उसमें ओतप्रोत होने वाले का तो क्या कल्याण नहीं होगा?'

(उपदेश प्रासाद, श्राद्धविधि से)

(३०)

गृहस्थ होते हुए भी ब्रह्मचारी एवं आहार करते हुए भी उपवासी
अर्थात्

सूर एवं सोम का वृत्तान्त

(१)

सूर एवं सोम दोनों सगे भाई थे। सूर बड़ा था और सोम छोटा। सूर राजा था, सोम युवराज था। एक दिन श्रावस्ती नगरी में धर्मवृद्धि नामक आचार्य महाराज का पदार्पण हुआ। उनकी देशना श्रवण करके सोम को वैराग्य हो गया और उसने दीक्षा ग्रहण कर ली।

अल्प काल में ही सोम मुनि ने ग्यारह अंग आदि शास्त्रों का अध्ययन किया और उन्होंने तप से अपनी देह को अशक्त कर दिया और साथ ही साथ उन्होंने अपने मन को भी अनासक्त बना दिया।

राजा सूर राज्य का संचालन करते हुए प्रजा का पालन करने लगे, परन्तु उनका मन तो सोम के संयम के अनुमोदन में ही था।

(२)

‘राजन्! उद्यान में राजर्षि सोम का आगमन हुआ है’ उद्यान पालक ने आकर राजा को सूचना दी।

राजा, रानी तथा समस्त परिवार उद्यान में गये और मुनिवर की देशना श्रवण करके लौट आये। रानी ने उस समय ऐसा अभिग्रह ग्रहण किया कि जब तक राजर्षि सोम यहाँ रहेंगे तब तक उनको वन्दन किये बिना मैं आहार ग्रहण नहीं करूँगी।

(३)

नगरी एवं उद्यान के मध्य एक नदी थी, जो वर्षा ऋतु में तो पूर्ण वेग से बहती परन्तु अन्य ऋतुओं में छिछली रहती। उस दिन रात्रि में घोर वृष्टि हुई, नदी पूर्ण वेग से बहने लगी। रानी ने राजा को अपने अभिग्रह की बात की कि ‘स्वामि! अब क्या करेंगे? नदी तो पूर्ण वेग से बहती होगी, सामने किनारे कैसे जायेंगे?’

राजा ने कहा, ‘घवराओ मत। तुम नदी पर जाओ और तट पर खड़ी रह कर

हाथ जोड़कर कहना, 'हे नदी माता! मेरे देवर मुनि ने दीक्षा ग्रहण की तब से आज तक यदि मेरे पति ने शुद्ध रूप से ब्रह्मचर्य का पालन किया हो तो मुझे सामने तट पर जाने के लिए मार्ग दो।'

रानी को मन में हँसी आई। वह तो अच्छी तरह जानती थी कि देवरमुनि की दीक्षा के पश्चात् तो उसके सोम, शर्मा आदि पुत्र हुए थे, परन्तु राजा के इस प्रकार कहने का कोई कारण होगा, यह मानकर पति की बात में सन्देह न करके परिवार के साथ प्रस्थित हुई और नदी के तट पर आकर कहा, 'देवी! मेरे मुनि को वन्दन करने का नियम है। मेरे पति ने मेरे देवर सोम मुनि की दीक्षा के दिन से लगा कर आज तक पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया हो तो मुझे मार्ग दो।' रानी पाँच-दस मिनट हाथ जोड़ कर इस प्रकार प्रार्थना करती रही। इतने में नदी का प्रवाह बदला और उद्यान की ओर जाने का मार्ग छिछला (कम पानी वाला) हो गया। रानी नदी को पार करके सामने किनारे पर गई उसने भाव पूर्वक मुनि को वन्दन किया और एक एकान्त स्थान पर उसने भोजन बना कर मुनि को आहार प्रदान किया और स्वयं ने पारणा किया।

पारणा करने के पश्चात् पुनः मुनिवर को वन्दन करके रानी बोली, 'भगवन्! मैं यहाँ आई तब नदी दोनों किनारों से पूर्ण वेग से बह रही थी। मैंने तट पर आकर कहा, 'देवी! मेरे देवर मुनि ने दीक्षा ग्रहण की उस दिन से मेरे पति ने पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया हो तो मुझे सामने तट पर जाने का मार्ग प्रदान करो। भगवन्! नदी ने मार्ग दिया और हम यहाँ आये, परन्तु मुझे यह समझ में नहीं आ रहा कि ये कैसे हुआ? राजा के तो आपकी दीक्षा के पश्चात् अनेक पुत्र हुए हैं, फिर ब्रह्मचर्यव्रत कैसे रहा?'

मुनिवर ने कहा, 'भद्रे! पाप एवं पुण्य में मन ही कारण है। सूर राजा ने मेरी दीक्षा के पश्चात् राज्य संचालन किया और गृहस्थ धर्म का पालन किया, परन्तु उनका मन सदा संयम में ही रहा है। उन्होंने मन से यह सब वस्तु भिन्न ही मानी है। अतः उनका प्रभाव नदी माता ने स्वीकार किया।' रानी ने आश्चर्य से सिर हिलाया। उसके मन में राजा के प्रति अत्यन्त सम्मान उत्पन्न हुआ और वह बोली, 'अहो! कैसा उनका गम्भीर हृदय और कैसी उनकी धीरता!'

सन्ध्या का समय हुआ। वर्षा तो वैसी ही हो रही थी नदी दोनों तटों पर पुनः वेग पूर्वक बह रही थी रानी सोचने लगी कि समाने किनारे पर कैसी जाऊँगी? तब मुनि के कहा, 'भद्रे! घबराओ मत। तुम नदी के तट पर जाकर कहना कि, 'मेरे देवर मुनि ने आज तक उपवास किये हों तो हे नदी माता! मुझे मार्ग दो।' रानी को यह सुनकर पहले से भी अधिक आश्चर्य हुआ क्योंकि अभी ही उसने मुनि को आहार प्रदान किया था। रानी ने नदी के तट पर आकर कहा, 'हे नदी माता! सोम मुनि दीक्षा के दिन

से लगा कर आज तक उपवासी रहे हों तो मुझे मार्ग दो।' रानी यह ध्यान कर रही थी कि नदी का प्रवाह बदला और देखते ही देखते सामने के तट का मार्ग छिछला हो गया। रानी घर पर आई परन्तु उसे कुछ भी समझ में नहीं आया कि यह हुआ कैसे? मैंने स्वयं तो मुनि को भिक्षा प्रदान की है। मुनि नित्य भिक्षा लाते हैं और भोजन करते हैं, फिर उपवासी कैसे? और यदि उपवासी न हों तो नदी माता उस वचन को मान्य करके मार्ग कैसे दे?

रानी रात्रि में भी यही सोचती रही। इतने में राजा आये। उन्होंने पूछा, 'देवी क्या विचार कर रही हो?'

रानी ने कहा, 'प्राणनाथ! मुनि नित्य भोजन करते हैं फिर भी मैं बोली कि दीक्षा के पश्चात् मुनि उपवासी रहे हों तो नदी माता! मार्ग दो।' मुझे मार्ग मिला और मैं आ गई। इसका कारण क्या?'

'देवी! तू समझती ही नहीं कि उनका त्याग कैसा अपूर्व है? उनकी निराशंसता कैसी अनुपम है? देह के प्रति उन्हें ममत्व ही कहाँ है? वे देह को धारण करते हैं, उसका पोषण करते हैं, वह भी पर के कल्याण के लिए। उन्हें चाहे जैसा आहार प्रदान करो, यदि मधुर हो तो उसके प्रति आदर नहीं है और नीरस हो तो उसके प्रति अभाव नहीं है। मुनि तो 'मोक्षे भवे च सर्वत्र'... समान हैं। फिर तो वे उपवासी ही गिने जायेंगे न?'



राजा का मन भोग-भोगने हुए भी, भोगों से विरक्त है,
अतः जलकमलवत् निर्लेप जीवन होने से नदी ने मार्ग दिया!

रानी सोचने लगी, 'अहो! भाईयों की ऐसी जोड़ी को धन्य है। एक राजा बन कर राज्य का पालन करते हैं फिर भी निरीह मुनि के समान हैं। दूसरे खाते हैं फिर भी सदा के उपवासी हैं। कैसा उनका मन और कैसी उनकी अटलता! मन ही पाप-बन्धन का कारण है और उस मन का इन दोनों भाइयों ने कैसा निग्रह किया है? उत्तरदायित्व पूर्वक राजा को राज्य का पालन करना पड़ता है अतः पालन करते हैं और गृहस्थी निभानी पड़ती है, अतः निभाते हैं। यह सब करने पर भी मन को स्थिर रखना क्या कम दुष्कर है? जिस मार्ग में उनका मन है उसमें मैं क्यों न सहायक बनूँ? उनका मन सचमुच दीक्षा में है तो वे भी दीक्षा ग्रहण करें और मैं भी दीक्षा ग्रहण करूँ।'

दूसरे दिन राजा-रानी दोनों ने दीक्षा ग्रहण की। अनासक्त मन वाले सूर एवं सोम मुनि कालान्तर में मोक्ष गये, परन्तु जगत् में आज भी गृहस्थी में रहे तो भी सच्चे ब्रह्मचारी और नित्य भोजन करने पर भी उपवासी बन कर वे जगत् के समक्ष अपने नाम का आदर्श प्रस्तुत कर गये।

स्नातं मनो यस्य विवेकनीरैः

स्यात्तस्य गेहे वसतोऽपि धर्मः

यत्सूरसोमौ व्रतभृद्गृहस्थौ

मुक्तिं गतौ द्वावपि च क्रमेण ॥११॥

जिनका मन विवेक रूपी जल से नहाया हुआ है उनका घर में रहना भी धर्म है। सूर एवं सोम इसी निर्मल मन से क्रमशः मोक्ष में गये हैं।

(प्रस्तावशतक से)

(३१)

विश्वासघात अर्थात् विसेमिरा की कथा

(१)

विशाल नगरी का राजा नन्द अत्यन्त प्रतापी राजा था। उसके समान ही एक महान् विद्वान बहुश्रुत नामक उसका मंत्री था। विजयपाल नामक उसका पुत्र भी अत्यन्त विनयी था। उसकी रानी भानुमती ने उसको मुग्ध कर दिया था। वह उससे तनिक भी दूर नहीं रह सकता था। वह उसे सदा साथ ही रखता था। राजा यदि शिकार पर जाता तो भी रानी को साथ ले जाता और यदि वह राज-दरवार में बैठता तो भी रानी को पास बिठाता था। यह बात मंत्री को अच्छी नहीं लगी। अतः उसने एक दिन राजा को एकान्त में कहा, 'राजन्! आप मेरे अन्नदाता हैं। सच्चे सेवक का कर्तव्य है कि स्वामी यदि भूल करे और मंत्री उसे जानता हो फिर भी उसे न कहे तो वह कृतघ्न कहलाता है। आपको रानीजी प्राण से भी अधिक प्रिय हैं, यह मैं जानता हूँ, फिर भी दरवार में आप उन्हें अपने पास बिठाओ यह उचित नहीं है। यदि आपको उनका विरह असह्य हो तो उनका एक सुन्दर चित्र आप अपने पास रखें उसमें कोई आपत्ति नहीं है।'

(२)

राजा ने भानुमती का एक सुन्दर चित्र बनवाया। यदि वह चित्र पड़ा हुआ हो और देखने वाला यदि गौर से न देखे तो प्रतीत होगा कि मानो राजा-रानी ही बैठे हैं। उक्त चित्र राजा नन्द ने अपने गुरु शारदानन्दन को बताया। महा पुरुषों की हाँ में हाँ कहने वाले तो स्थान स्थान पर मिलते हैं परन्तु यदि स्वयं को उचित नहीं प्रतीत हो तो 'नहीं' कहने वाले तो कोई तेजस्वी पुरुष ही होते हैं। शारदानन्दन बुद्धिमान एवं तेजस्वी थे। वे चित्र देखते ही बोले, 'राजन्! चित्र तो चित्रकार ने रानीजी हैं वैसा ही बनाया है परन्तु उनकी बाँधी जाँध में तिल है वह इस चित्र में उसने चित्रित नहीं किया।'

राजा तुरन्त चौंक पड़ा, 'रानी की जाँध में तिल है उसका शारदानन्दन को कैसे पता लगा? क्या भानुमती शारदानन्दन के साथ दुराचार में लिप्त रही होगी? स्त्री का क्या विश्वास?' राजा ने शारदानन्दन को रानी का प्रेमी मान लिया और उसने उसका

वध कराने का निश्चय कर लिया।

राजा और शारदानन्दन अपने-अपने स्थान पर चले गये परन्तु जाते-जाते राजा ने मंत्री को बुला कर आज्ञा दी कि 'शारदानन्दन का सिर काट डालो। इस आदेश के क्रियान्वयन में तनिक भी विलम्ब न हो।'

बहुश्रुत मंत्री दूर-दर्शी था। उसने सोचा, 'राजा मनस्वी होते हैं। वे शीघ्रता में जो कुछ कहते हैं वह सब मान्य नहीं किया जाता। आज उनमें क्रोध का आवेश है अतः वे इस प्रकार कह रहे हैं। कल जब क्रोध का वेग कम होगा तब उन्हें अपनी भूल समझ में आयेगी। शारदानन्दन जैसे विद्वान की हत्या करने के पश्चात् वैसा बुद्धिमान व्यक्ति फिर खोजने से थोड़े ही मिलेगा?' मंत्री ने शारदानन्दन को बुलाया और राजाज्ञा की बात कही। उन्हें अपने प्रासाद के तलघर में गुप्त रूप से रखा। दूसरे दिन राजा को कहा, 'मैंने आपके आदेश का पालन कर दिया है।' रानी के प्रेमी का वध होने की बात मान कर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ।

(३)

एक बार राजकुमार विजयपाल शिकार खेलने गया और उसने एक शूकर का पीछा किया। शूकर आगे और राजकुमार पीछे। दौड़ता-दौड़ता राजकुमार एक जंगल में आ पहुँचा। उसके सब साथी उससे दूर रह गये। सूर्यास्त हो गया। चारों ओर पक्षियों का कलरव होने लगा। तनिक रात्रि होते ही वहाँ शेर-चीतों की दहाड़ सुनाई देने लगी। राजकुमार एक वृक्ष के समीप आया और हिंसक पशुओं से बचने के लिए वह वृक्ष पर चढ़ गया। इतने में एक व्यन्तराधिष्ठित बन्दर बोला, 'राजकुमार! यह वन भयानक है। तू ऊपर चढ़ गया यह ठीक किया। देख नीचे ही बाघ खड़ा है।' राजकुमार ने बाघ को देखा। देखते ही वह काँपने लगा, परन्तु तत्पश्चात् बन्दर द्वारा साहस दिये जाने पर वह स्थिर हुआ। रात्रि बढ़ने लगी राजकुमार को नींद आने लगी, तब बन्दर ने कहा, 'कुमार तू अभी मेरी गोद में सो जा। मैं तेरी रक्षा करूँगा। दूसरे प्रहर में मैं सोऊँगा और तू मेरी रक्षा करना। हम दोनों के जगते रहने का क्या काम है?'

राजकुमार भूखा था और थका हुआ था। अतः वह बन्दर की गोद में सिर रख कर गहरी नींद में सो गया। कुछ समय के पश्चात् बाघ बोला, 'बन्दर! इस राजकुमार को तू मुझे दे दे। यह मेरा भक्ष्य है। मनुष्य का अधिक विश्वास मत रख।'

बन्दर ने कहा, 'मैं उसे नहीं सौंप सकता। वह मेरे विश्वास पर मेरी गोद में सोया है। मैं तुझे कैसे सौंपूँ?'

एक प्रहर व्यतीत हो गया। राजकुमार जग गया, अतः बन्दर राजकुमार की गोद में सिर रख कर सो गया। जब बन्दर खर्राटे लेने लगा तब बाघ बोला, 'राजकुमार!

मैं भूखा हूँ, तू मुझे बन्दर दे दे। बन्दर का तू क्या विश्वास करता है? बन्दर के समान कोई चंचल प्राणी नहीं है और चंचल चित्तवाला व्यक्ति कब प्रसन्न हो जाये और कब शत्रु हो जाये, उसका थोड़े ही विश्वास है?’

राजकुमार ने बन्दर को गोद में से नीचे गिरा दिया, परन्तु जिसका भाग्य ठीक हो उसका वाल बाँका थोड़े ही होता है? गिरते-गिरते बन्दर ने बीच की दूसरी डाली पकड़ ली और बोला, ‘राजकुमार तूने मुझे ऐसा ही बदला दिया न? मैं तेरे विश्वास पर तेरी गोद में सोया था, तूने मेरे साथ विश्वासघात किया? राजकुमार! सब पापों की अपेक्षा विश्वासघात का पाप भयंकर है।’ प्रातः होने पर बन्दर के भीतर विद्यमान व्यन्तर ने राजकुमार को पागल कर दिया और वह ‘विसेमिरा’ बोलने लगा।

(४)

‘विसेमिरा विसेमिरा’ बोलता हुआ राजकुमार विजयपाल विशाल नगरी के जंगल में आया। राजा, मंत्री आदि सब एकत्रित हुए और सोचने लगे कि ‘इस राजकुमार को हुआ क्या?’ शिकार में साथ गये राजसेवकों को पूछा कि ‘राजकुमार को यह क्या हुआ है?’ उन्होंने कहा, ‘कल सायं राजकुमार ने शूकर का पीछा किया था। हम सब उनसे अलग पड़ गये थे। वे रात्रि में वन में रहे और हम भी उन्हें खोजते रहे। इतने में जैसे आपने इन्हें देखा वैसे हमने भी इन्हें ‘विसेमिरा विसेमिरा’ बोलते हुए देखा है। डरमे अधिक हम कुछ नहीं जानते।’



बाघ बांला, ‘बंदर! इस राजकुमार को तू मुझे दे दे. यह मेरा भक्ष्य है.

मनुष्य का अधिक विश्वास मत रख!

उस समय राजा नन्द को बुद्धिमान शारदानन्दन का स्मरण हुआ। वे यदि आज होते तो इसका अवश्य ही मुझे सच्चा निदान बताते, क्योंकि उनकी बुद्धि अगम-निगम की ज्ञाता थी, परन्तु उनका मैंने वध करवा दिया, अब क्या हो सकता है?

राजा ने सम्पूर्ण नगर में ढिंढोरा पिटवाया कि 'राजकुमार को स्वस्थ करने वाले व्यक्ति को राजा आधा राज्य प्रदान करेंगे।' परन्तु कोई भी आधा राज्य लेने के लिए तत्पर नहीं हुआ।

मंत्री ने राजा को कहा, 'राजन्! राजकुमार चंगा (स्वस्थ) हो न हो यह तो उसके भवितव्यता की बात है, परन्तु मेरी पुत्री इस सम्वन्ध में कुछ अच्छा जानती है। वह तलघर में ही रहती है। उसे बतायें।'

(५)

'विसेमिरा विसेमिरा' बोलने वाले राजकुमार को लेकर राजा तलघर में आया। मंत्री बोला, 'पुत्री! राजकुमार के रोग का निदान करके राजा एवं प्रजा पर अनुग्रह कर।'

पर्दे के पीछे छिपे शारदानन्दन ने कहा, -

विश्वास प्रतिपन्नानां, वंचने का विदग्धता।

अंकमारुह्य सुप्तानां हंतुं किं तव पौरुषम्?।।१।।

विश्वास रखने वाले को ठगने में क्या चतुराई है? गोद में सोये हुए को मारने में क्या पराक्रम है?'

मंत्र का प्रभाव होने पर जिस प्रकार विष की प्रबलता कम हो जाती है उसी प्रकार 'विसेमिरा विसेमिरा' बोलने वाला राजकुमार स्तब्ध होकर नेत्र फाड़ कर यह श्लोक श्रवण करता रहा और श्लोक पूर्ण होने पर 'सेमिरा सेमिरा' बोलने लगा।

पर्दे के पीछे से शारदानन्दन बोले -

सेतुं गत्वा समुद्रस्य गंगासागरसंगमे।

ब्रह्महा मुच्यते पापात् मित्रद्रोही न मुच्यते।।

'सेतु (राम द्वारा निर्मित समुद्र की पाल) देखने से तथा गंगा एवं सागर के संगम में स्नान करने से ब्रह्महत्या करने वाला अपने पाप से मुक्त होता है, परन्तु मित्र का संहार करने का अभिलाषी व्यक्ति सेतु को देखने से अथवा संगम में स्नान करने से शुद्ध नहीं होता।'

'सेमिरा सेमिरा' बोलता हुआ राजकुमार यह श्लोक श्रवण करने के पश्चात् 'मिरा मिरा' बोलने लगा। राजा को अब विश्वास हो गया कि राजकुमार अब अवश्य स्वस्थ होगा। इतने में पर्दे के पीछे से तीसरे श्लोक का उच्चारण हुआ -

मित्रद्रोही कृतघ्नश्च, स्तेयी विश्वासघातकः।

चत्वारो नरके यान्ति यावच्चंद्रदिवाकरौ।।

‘मित्र का संहार करने का अभिलाषी, कृतघ्न, चोर एवं विश्वासघातक ये चारों जब तक सूर्य-चन्द्रमा उगते हैं तब तक नरक में रहते हैं।’

‘मिरा मिरा’ बोलता हुआ राजकुमार ‘रा’ ‘रा’ बोलने लग गया। ‘विसेमिरा विसेमिरा’ के तीन अक्षर छूट गये। राजा, मंत्री सब आश्चर्यचकित होकर देखते रहे। यह क्या बोलता जा रहा है और उससे ये अक्षर क्यों छूट रहे हैं, इसका उन्हें कोई पता नहीं लगा।

शारदानन्दन ने पर्दे के पीछे से चौथे श्लोक का उच्चारण किया -

राजस्त्वं राजपुत्रस्य यदि कल्याणमिच्छसि।

देहि दानं सुपात्रेषु गृही दानेन शुद्ध्यति।।

‘राजन्! अपने पुत्र का कल्याण चाहते हो तो सुपात्र को दान दे क्योंकि गृहस्थ दान से ही शुद्ध होता है।’

राजकुमार के नेत्रों में से पागलपन चला गया, वह स्वस्थ हो गया और उसने वन का समस्त वृत्तान्त राजा एवं मंत्री को कह सुनाया।

राजा पर्दे की ओर हाथ जोड़कर बोला, ‘पुत्री! तेरा मुझ पर तथा राज्य पर महान् उपकार है, परन्तु मैं तुझे पूछता हूँ कि निरन्तर तलधर (गर्भगृह) में रहने वाली तुझे यह वन में घटित हुई वन्दर, वाघ और मनुष्य की बात कैसे ज्ञात हुई?’



अगाध घटनाओं को भी अपनी जीभ पर बसी सरस्वती की कृपा से व्यक्त कर शारदानन्दन ने राजा की शंका को निर्मूल किया. राजा ने अपने जीवन से विश्वासघात-पाप को तिलांजली दे दी.

पर्दे में से शारदानन्दन ने कहा, 'राजन्!'

देवगुरुप्रसादेन जिह्वाग्रे मे सरस्वती।

तेनाऽहं नृप जानामि, भानुमत्यास्तिलं यथा।।

'हे राजा! मैं देव-गुरु की कृपा एवं मेरे जीभ पर सरस्वती का निवास होने से जिस प्रकार मैंने भानुमती की जाँघ का तिल जान लिया था उसी प्रकार राजकुमार का यह समस्त वृत्तान्त जाना है।'

राजा तुरन्त खड़ा हो गया और बोला, 'गुरु शारदानन्दन?'

सामने से उत्तर मिला - 'हाँ।'

राजा तुरन्त पर्दा हटा कर भीतर गया और बोला, 'गुरुदेव! मेरा अपराध क्षमा करें।'

राजा एवं शारदानन्दन ने प्रेम पूर्वक परस्पर आलिंगन किया। राजा अपने अविचार के कारण लज्जित हुआ और तत्पश्चात् राजाने अपना अविचारी स्वभाव त्याग दिया और राजा तथा प्रजा दोनों ने विश्वासघात की भयंकरता का विजयपाल के दृष्टान्त से अनुमान लगाया।

(श्राद्धविधि से)

(३२)

बोलने की अपेक्षा नहीं बोलना श्रेष्ठ है
अर्थात्

विजय सेठ की कथा

(१)

विजयवर्धन नगर के सेठ विशाल के एक विजय नामक पुत्र था, जो अत्यन्त विनयी, गम्भीर एवं गुणवान था। वयस्क होने पर वसन्तपुर के सेठ सागर की पुत्री 'श्रीमती' के साथ विजय का विवाह हुआ। श्रीमती के नाम के अनुरूप ही उसका सौन्दर्य था, परन्तु पति के अतिशय वियोग के कारण वह तनिक चरित्र-भ्रष्ट हो गई थी।

एक बार विजय अपनी पत्नी को लेने के लिए वसन्तपुर आया। पिता के आग्रह से श्रीमती अपने पति विजय के साथ चली परन्तु उसका मन अपने मैके में रहने वाले उसके प्रेमी एक दास में था।

तनिक दूर चलने पर मार्ग में एक कुँआ आया। विजय जब उस कुँए में जल निकाल रहा था तब पीछे से उसकी पत्नी श्रीमती ने उसे कुँए में ढकेल दिया। कुँए में गिरते ही विजय ने उसमें उगे एक वृक्ष की शाखा पकड़ ली।



असदाधारी पत्नि ने अपने पति को कुएँ में गिरा कर मारने की कांशिश की।
मगर मारने वाले से भी तारने वाले के हाथ...

श्रीमती वहाँ से भाग कर अपने पिता के घर आ गई और सिसक-सिसक कर रोती हुई बोली, 'हाय! मैं क्या करूँ? मार्ग में हमें चोर मिले। उन्होंने मुझे पीटा और जब मेरे पति ने उन चोरों का सामना किया तो उसे भी उन्होंने पीटा और वे उसे कहीं लेकर चले गये। हाय! अब मैं क्या करूँ?'

माता-पिता और सखियों ने उसे सान्त्वना देकर शान्त किया। समय व्यतीत होता रहा।

(२)

कुँए में से विजय बल लगा कर धीरे धीरे ऊपर चढ़ता हुआ कुँए के बाहर आया और तत्पश्चात् वह अपने नगर में आ गया।

पिता ने पूछा, 'पुत्र! अकेला क्यों आया? वह क्यों नहीं आई?'

पुत्र ने उत्तर दिया, 'इस समय उसका स्वास्थ्य ठीक नहीं है। कुछ समय के पश्चात् वह आयेगी।'

समय व्यतीत होता गया परन्तु विजय अपनी पत्नी को लाने के लिए कुछ कहता नहीं और यदि कोई कहता है तो वह उस पर तनिक भी ध्यान न देकर उसकी अवहेलना करता।

कुछ समय के पश्चात् माता-पिता की मृत्यु हो गई। विजय घर का स्वामी बन गया। मित्रों ने प्रेरणा दी, 'भले आदमी! पत्नी के बिना तो कोई घर-संसार चलता होगा? पत्नी के साथ मन-मुटाव कितने समय तक? जा उसे ले आ।'

विजय ससुराल गया। सास-ससुर ने उसका सत्कार किया और विजय को मार्ग में लूटे जाने की बात पूछी। विजय ने उन्हें उत्तर देकर शान्त किया और कहा, 'जीवन यात्रा है, कभी कभी लुट भी जाते हैं, जीवन शेष था तो बच गया आपको मिला।'

शुभ दिन देख कर विजय वर्धन अपनी पत्नी श्रीमती को लेकर अपने नगर आया। अब वह पहले जैसी श्रीमती नहीं रही थी। वह अब समझदार हो गई थी। अतः वह अपने घर में स्थिर होकर रही और क्रमशः वह चार पुत्रों की माता बनी।

(३)

अब श्रीमती प्रौढ़ हो गई। विजय भी अब वृद्ध हो चला है। उसके घर में चार पुत्र एवं पुत्र-वधुएँ हैं।

एक से अधिक मनुष्य होने पर स्नेह की वृद्धि होती है उसी प्रकार क्लेश की भी वृद्धि होती है। उस तरह श्रीमती का भी कभी-कभी पुत्रवधुओं के साथ झगड़ा हो जाता। झगड़ा उग्र रूप पकड़े इतने में विजय आकर कहता, 'बोलने की अपेक्षा नहीं बोलना श्रेष्ठ है।'

झगड़ा शान्त हो जाता, परन्तु विजय के 'बोलने की अपेक्षा नहीं बोलना श्रेष्ठ' ये वचन परिवार के मनुष्यों में प्रसिद्ध हो गया।

एक बार छोटे पुत्र ने पिता को कहा, 'पिताजी, बाकी तो ठीक है परन्तु आप जब-तब यह क्यों कहते हैं कि 'बोलने की अपेक्षा नहीं बोलना श्रेष्ठ?' आपको इसका कोई कटु-मधुर अनुभव हुआ है क्या?'

विजय तनिक मुस्कराया। पुत्र समझा कि अवश्य इसमें कुछ भेद है। अतः उसने आग्रह किया कि, 'नहीं पिताजी! आप इसका रहस्य समझाइये।'

विजय ने कहा, 'पुत्र! पूछने की अपेक्षा नहीं पूछना श्रेष्ठ है।'

पुत्र के अधिक आग्रह करने पर वह बोला, 'सुन, यह बात मैंने कभी किसी को कही नहीं है, फिर भी तुझे बताता हूँ। पेट में रखना।' इतना कह कर उसकी माता ने उसे जो कुँए में धक्का मार दिया था वह विस्तृत बात उसे कह दी और साथ ही साथ कहा कि 'तू यह बात गुप्त रखना, किसी को कहना मत।'

कुछ दिनों तक तो उसने किसी को यह बात नहीं कही परन्तु एक बार सास-बहू में बहुत झगड़ा हुआ तब छोटे पुत्र ने अपनी पत्नी को कहा, 'क्यों लड़ती हो? पिताजी नित्य कहते हैं कि 'बोलने की अपेक्षा नहीं बोलना श्रेष्ठ' - यह नहीं समझती? मेरी माता ने मेरे पिता को भी कहाँ छोड़ा? उसने भी उन्हें कुँए में धक्का मार दिया था।' बहूने इस बात की गाँठ बाँध ली और जब पुनः सास के साथ झगड़ा हुआ तब वह बोली, 'वैठो वैठो सासजी! तुम कैसी हो यह मेरे ससुर को ही पूछो न?' उनको विचारे को भी कुँए में धक्का मार दिया था वह तुम थी अथवा कोई अन्य?'

सास को झगड़े का दौर उतर गया। मैं क्या सुन रही हूँ यह विचार करने पर उसकी आँखों के आगे अन्धकार छा गया। उसे अनुभव हुआ कि अब मेरा इस घर में वर्चस्व नहीं रहेगा। यह पुत्र-वधु भी जान गयी है कि 'सास ऐसी है' फिर मेरा वर्चस्व कैसे रहेगा? तुरन्त 'श्रीमती' को चक्कर आया और तत्काल हृदय-गति बन्द होने से वहीं उसकी मृत्यु हो गई।

विजय सेठ को जब यह ज्ञात हुआ तब उसे अपार पश्चाताप हुआ। वह बोला कि मैंने वर्षों तक गम्भीरता रखी, एक शब्द भी नहीं बोला और सबको 'बोलने की अपेक्षा न बोलना श्रेष्ठ' का उपदेश देने वाले मैंने स्वयं ही छोटे पुत्र के आगे बोल कर मैंने अपना घर नष्ट किया। छोटे पुत्र को भी घोर पश्चाताप हुआ परन्तु अब क्या करता? श्रीमती की मृत्यु के उपरान्त विजय सेठ को शान्ति नहीं मिली और उन्होंने दीक्षा अंगीकार कर ली; परन्तु उनका उपदेश 'बोलने की अपेक्षा नहीं बोलना श्रेष्ठ' तो सदा के लिए उनके घर में गूँजता रहा।

(३३)

किसी का बुरा मत सोचो अर्थात् धनश्री की कथा

(१)

आधोरण नगर में नित्य एक योगी भिक्षा के लिए घूमता और कहता, 'जो जैसा करता है वह वैसा प्राप्त करता है।'

उसी नगर में एक धन सेठ और उसकी पत्नी धनश्री निवास करते थे। उनके दो पुत्र थे- एक सात वर्ष का और दूसरा पाँच वर्ष का। यों तो धन सेठ एवं धनश्री सब प्रकार से सुखी थे। एक बार योगी के 'जो जैसा करेगा वह वैसा पायेगा' शब्द सुनकर धनश्री के मन में विचार आया कि यह योगी कह रहा है उसकी सत्य-असत्य की परीक्षा करनी चाहिये। उसने योगी को विष के लड्डू भिक्षा में दे दिये। योगी ने 'अलख निरंजन' कह कर वे दो लड्डू झोली में डाल दिये। तत्पश्चात् अन्य भिक्षा भी घर-घर माँग कर वह नगर के बाहर आया।

योगी ने भिक्षा का पात्र बाहर निकाला तो भिक्षा आवश्यकता से अधिक आई थी। जब योगी खाने के लिए बैठा तब दैवयोग से घूमते-घूमते धनश्री के दोनों पुत्र वहाँ आये और योगी की भिक्षा की ओर ताकते रहे। वालकों को लड्डू सदा प्रिय होते हैं,



'जैसी करनी वैसी भरनी' उक्ति की परीक्षा धनश्री को ही आघातक साबित हुई. योगी को दिए गए जहर मिश्रित दोनो ही लड्डू धनश्री के पुत्रों ने ग्रहण कर मौत को आमंत्रित किया.

इसलिए योगी ने धनश्री द्वारा दिये गये वे दोनों लड्डू उसके पुत्रों को दे दिये। बालक प्रसन्न होकर लड्डू खाकर जल पीकर निकटस्थ वृक्ष के नीचे सो गये। योगी भोजन करके अपनी कुटिया में गया परन्तु वे दो बालक वहाँ सोये और पुनः जगे ही नहीं।

(२)

धन एवं धनश्री ने पुत्रों की अत्यन्त खोज की तब उस वृक्ष के नीचे वे दोनों मृत पाये गये। अत्यन्त रुदन आदि करने पर उन्होंने मान लिया कि ये दोनों बालक साँप के काटने से मर गये हैं।

बालकों के देह का अग्निसंस्कार किया और कई दिन व्यतीत होने पर धन एवं धनश्री का शोक कम हुआ।

(३)

बालकों की मृत्यु हुए छः माह व्यतीत हो गये। धनश्री चबूतरे पर बैठी थी, इतने में 'अलख निरंजन' कहता हुआ योगी आया और बोला, 'जो जैसा करेगा वह वैसा पायेगा।' इन शब्दों से धनश्री को छः माह पूर्व प्रदत्त विष-मिश्रित लड्डूओं का स्मरण हुआ। वह आश्चर्य-चकित होकर सोचने लगी, 'मैंने तो इसे विष के लड्डू दिये थे, परन्तु यह तो अभी तक उन्हीं शब्दों का उच्चारण कर रहा है। क्या इस पर विष का प्रभाव नहीं हुआ अथवा इसने विष के लड्डूओं को परख कर उन्हें फैंक दिया।'।

योगी के समीप आने पर धनश्री ने कहा, 'महाराज! आपको स्मरण है कि मैंने छः माह पूर्व आपको भिक्षा में दो लड्डू दिये थे?'

योगी ने कहा, 'अच्छी तरह स्मरण है।'

'तो वे लड्डू खाये थे अथवा फैंक दिये थे?'

योगी ने कहा, 'बहन! वे दो लड्डू मैंने अपने पास खड़े दो बच्चों को दिये थे। उन्होंने प्रसन्न होकर लड्डू खा लिये थे और समीपस्थ वृक्ष के नीचे जल पीकर सो गये थे। मेरी ओर बालक ताकते रहें और मैं लड्डू खाऊँ तो क्या उचित है?'

ये शब्द सुन कर धनश्री के नेत्रों में आँसू छलक आये। वह कुछ कहे उससे पूर्व तो योगी 'जो जैसा करेगा वह वैसा पायेगा' कहता हुआ अदृश्य हो गया और धनश्री भी बोली, 'योगी! आप जो कहते हैं वह सच है कि -

कार्य परस्मिन्नऽहितं न कुर्यात्, करोति यादृग् लभते स तादृग्।

दत्तं विषान्नं जटिने धनश्रिया तेनैव तत्पुत्रयुगं विनष्टं ॥१॥

'दूसरों का अहित नहीं करना चाहिये। जो जैसा करता है वैसा प्राप्त करता है। धनश्री ने योगी को विष-मिश्रित अन्न प्रदान किया, परन्तु उस अन्न से धनश्री के ही दो पुत्रों की मृत्यु हो गई।'

(३४)

पूर्व-भव श्रवण
अर्थात्

चन्द्रराजा का संयम

(१)

एक वार वनपाल ने आकर चन्द्र राजा को वधाई दी, 'राजन्! उद्यान में भगवान श्री मुनिसुव्रत स्वामी तीर्थंकर का पदार्पण हुआ है।'

वधाई सुनकर चन्द्रराजा अत्यन्त हर्षित हुआ। उसने वनपाल को सात पीढ़ियों तक चले उतना पुरस्कार दिया। तत्पश्चात् राजा ने चतुरंगी सेना तैयार की। नगर को ध्वजा-पताकाओं से सजाया, हाथी-घोड़े-रथ, पालखी सजा कर समस्त परिवार तथा प्रजाजनों को साथ लेकर राजा नगर के बाहर आया। भगवान का समवसरण देख कर वह अत्यन्त प्रफुल्लित हुआ और जिस प्रकार मनुष्य जीवन में एक के पश्चात् एक गुणों की सीढ़ियाँ चढ़ता है उसी प्रकार वह समवसरण की सीढ़ियाँ चढ़कर भगवान की प्रदक्षिणा करके पर्वदा में बैठा। साथ आये हुए प्रजाजन भी उचित स्थानों पर बैठ गये।

सभी शान्त होकर भगवान के समक्ष स्थिर दृष्टि से देखने लगे कि मेघों के समान गम्भीर वाणी में भगवान 'नमो तित्थस्स' कह कर बोले -

'भूल्यो चेतन निकेत स्वभावानो विभावे तव आव्यो रे'

'हे भव्य जीवो! यह जीव अपने ज्ञान-दर्शन-चारित्र के स्वभाव को भूल कर जड़ के स्वभाव में प्रसन्न होता है, जिससे ही अनर्थ-परम्परा उत्पन्न करता है। जीव को देह अपनी प्रतीत होती है, धन अपना प्रतीत होता है, पुत्र अपने प्रतीत होते हैं, पत्नी अपनी प्रतीत होती है और संसार में जो यहाँ छोड़ कर जाना है वह सब अपना प्रतीत होता है; परन्तु जो सदा साथ रहने वाले हैं वे ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप धर्म पराये प्रतीत होते हैं। जब तक उसका यह दृष्टि भ्रम दूर नहीं होता, तब तक उसका कल्याण कैसे हो सकता है?

जीव अव्यवहार राशि से लगा कर इस प्रकार अनेक वार ऊपर आया परन्तु ऐसे विभ्रम के कारण अनेक बार पुनः उसका पतन हुआ। चेतन को कल्याण के लिए स्वभाव-दशा को समझना और विभाव-दशा का परित्याग करना आवश्यक है। यह जब पूर्ण रूपेण आपको समझ में आ जायेगा तब आप किसी की हिंसा नहीं करेंगे। इन्द्र की

ऋद्धि और अनुत्तर के सुख भी आपको काँच के टुकड़ों के समान प्रतीत होंगे। धर्म के लिए आने वाले भयंकर कष्टों को भी आप हँसते-हँसते सहन करोगे और स्वतः ही आपका उद्धार होगा और सुख-दुःख सब में आपका चित्त समान रहेगा। आपको कोई अपना शत्रु नहीं प्रतीत होगा परन्तु समस्त जीव कर्म-वश हैं यह मान कर सबके प्रति समभाव जाग्रत होगा।'

देशना पूर्ण होने पर चन्द्र राजा विचार-मग्न हुआ। वीरमती के साथ ही मेरी यह शत्रुता की परम्परा और प्रेमला, गुणावली, शिवमाला, मकर-ध्वज आदि के साथ स्नेह-सम्बन्ध भी क्या विभाव-दशा ही है न? यह विभाव-दशा जीवन में एक के पश्चात् एक पुट जमाती जाती है। उसमें पूर्व भव के कर्म कारण होते हैं। इस पूर्व भव का स्वरूप ऐसे केवलज्ञानी के अतिरिक्त अन्य कौन कहेगा? अतः वह पुनः भगवान को नमस्कार करके बोला, 'प्रभु! पूर्व भव में मैंने ऐसा कौन-सा कर्म किया था कि जिसके कारण मुझे मेरी सौतेली माँ ने मुर्गा बनाया? किन कर्मों के कारण मुझे नटों के साथ भटकना पड़ा? प्रेमला पर किस कर्म के कारण विष-कन्या का आरोप लगा? और कनकध्वज कोड़ी क्यों हुआ? यह सब अगम अगोचर हमारा वृत्तान्त आप सर्वज्ञ भगवान के अतिरिक्त अन्य कौन कह सकता है?'

भगवान ने कहा, 'राजन्! इस संसार में प्रेम एवं द्वेष, सुख एवं दुःख सब पूर्व भव के कारणों से होते हैं। तुम्हारा पूर्व भव मैं बताता हूँ वह सुनो, ताकि उनके समस्त कारण स्वतः ही तुमको समझ में आ जायेंगे।'



नतमस्तक हो कर चंद्रराजा ने प्रभु से पूछा - प्रभु! सौतेली माँ ने मुझे मुर्गा बनाया, नटों के साथ नट-वनकर घूमना पड़ा... पूर्व भव में मैंने कौन से क्लिष्ट कर्म किए थे? कृप कर बतावें.

(२)

‘वैदर्भ देश में तिलकापुरी नगरी थी। नगरी का राजा मदनभ्रम था और कनकमाला रानी थी। राजा के तिलकमंजरी नामक एक इकलौती पुत्री थी। वह अत्यन्त रूपवती एवं बुद्धिमान् थी परन्तु उसे जैन धर्म के प्रति द्वेष था। फिर भी जैन धर्म के प्रति अनन्य रागवाली, मंत्री सुबुद्धि की पुत्री रूपमती उसकी परम सखी थी।

तिलकमंजरी एवं रूपमती में ऐसा घनिष्ठ प्रेम था कि उन्होंने बचपन में ही ऐसा निश्चय किया था कि, ‘हम विवाह करेगी तो एक ही पति के साथ, क्योंकि यदि भिन्न भिन्न पतियों से हम विवाह करेगी तो हमें अपने घर भिन्न भिन्न रखने होंगे और हमें अलग पड़ना पड़ेगा।’

मंत्री-पुत्री रूपमती जैन धर्म की ज्ञाता, सुशील, धीर, गम्भीर, सद्गुणी एवं साधु-साध्वियों के साथ परिचय वाली थी। अतः एक दिन रूपमती के घर कोई साध्वी गोचरी के लिए आई। उस समय रूपमती मोतियों की माला पारो रही थी। वह तुरन्त खड़ी हुई और साध्वीजी को भिक्षा प्रदान करने के लिए उठी। उस समय तिलकमंजरी भी वहाँ बैठी थी, परन्तु उसे तो साध्वीजी के प्रति द्वेष होने के कारण उसने उनका कोई आदर-सत्कार नहीं किया, परन्तु साध्वीजी के संग में से रूपमती को हटाने के लिए उसने उसकी मोतियों की लड़ी साध्वी को पता न लगे उस प्रकार उनके वस्त्र में बाँध दी।

साध्वीजी भिक्षा लेकर उपाश्रय में गये। रूपमती अपनी मोतियों की लड़ी खोजने लगी परन्तु वह उसे नहीं मिली अतः उसने तिलकमंजरी को कहा, ‘सखी! मेरी मोतियों की लड़ी ली हो तो दे दे, मजाक मत कर।’

तिलकमंजरी ने कहा, ‘मैंने तो नहीं ली।’

‘तो यहाँ से कौन ले गया? यहाँ तेरे अतिरिक्त अन्य कोई तो है नहीं।’ मंत्री-पुत्री ने कहा।

तिलकमंजरी बोली, ‘अन्य कौन? तू जिनकी अपार प्रशंसा करती है उस साध्वी ने तेरी लड़ी ली है। तू उन्हें देने के लिए घी लेने गई तब उसने उसे उठा लिया।’

‘सखी! पूज्य त्यागी महात्माओं पर मिथ्या आरोप नहीं लगाना चाहिये। वे तो लड़ी को तो क्या परन्तु रत्नों का भी स्पर्श न करें ऐसे त्यागी हैं।’

तिलकमंजरी ने कहा, ‘देख लिया उनका त्याग। वे तो ढोंगी, पाखण्डी और लोगों की निन्दा करने वाले होते हैं। उन्हें मुफ्त का खाना है और मौज करनी है।’

रूपमती बोली, ‘व्यर्थ निन्दा करके कर्म-बन्धन मत कर। अन्य बात छोड़। तू मेरी लड़ी दे दे।’

लड़ी मैंने नहीं ली, तेरी साध्वी ले गई हैं। चल तु मैं प्रत्यक्ष बताती हूँ।' यह कह कर तिलमंजरी रूपमती को साथ लेकर उपाश्रय में आई और आहार का उपयोग करने बैठते समय साध्वी को कहा, 'महाराज, मेरी सखी की लड़ी दो। तुम भिक्षा लेने जाते हो और साथ ही साथ क्या चोरी भी करने जाते हो?'

साध्वी बोली, 'देख लो, यह रहे पात्र और वस्त्र। मैंने लड़ी नहीं ली और हम उसे क्यों लें?'

तुरन्त तिलकमंजरी ने जहाँ लड़ी बाँधी थी वह छोर खोल कर लड़ी निकाल बताई। साध्वी का मुँह उतर गया।

रूपमती ने कहा, 'तिलकमंजरी, यह सब कार्य तेरा प्रतीत होता है। साध्वी पर तूने ही मिथ्या आरोप लगाया है।'

तिलकमंजरी बोली, 'क्या तेरी साध्वी के प्रति ऐसी अंध-श्रद्धा है, ऐसा अंधराग है? चुराई हुई लड़ी तुझे प्रत्यक्ष बता दी और साध्वी उसका कोई स्पष्टीकरण नहीं दे रही है, अतः उन्हें बचाने के लिए तू मुझे बदनाम करती है?'

रूपमती ने कहा, 'मैं किसी भी तरह मान नहीं सकती कि साध्वी लड़ी चुरायें, तेरा उनके प्रति द्वेष है अतः उन्हें बदनाम करने के लिए तूने यह कार्य किया है, परन्तु सखी! हँसते हुए इस प्रकार बाँधे हुए कर्म अत्यन्त दुःखदायी सिद्ध होते हैं।'

रूपमती और तिलकमंजरी घर गईं परन्तु साध्वीजी से यह आरोप सहन नहीं हुआ,



राणी के कपट से अनभिज्ञ साध्वी ने कहा - देख लो! ये पात्र-वस्त्र. एक तिनके की भी चोरी न करने की आजीवन प्रतिज्ञा वाली हम तुम्हारी लड़ी की चोरी क्यों कर करेंगी?

जिससे वे फाँसी खाने लगी। उन्हें ऐसा करते पड़ौस में रहने वाली सुरसुन्दरी ने देख लिया जिससे उसने उन्हें आत्महत्या करने से रोका। तत्पश्चात् साध्वीजी भी शान्त हुए और आत्महत्या के प्रयत्न के लिए उन्हें भी अत्यन्त दुःख हुआ।

समय व्यतीत होते यह बात भूला दी गई। तिलकमंजरी एवं रूपमती के सम्बन्ध में तनिक अन्तर पड़ गया परन्तु कुछ समय के पश्चात् उनका फिर वही सम्बन्ध हो गया।

एक बार विराट्-राज शूरसेन की ओर से तिलकमंजरी के सम्बन्ध का प्रस्ताव आया। राजा ने उत्तर में कहा, 'शूरसेन के साथ तिलकमंजरी का विवाह करने में मुझे तनिक भी आपत्ति नहीं है, परन्तु मेरी पुत्री तथा मंत्री की पुत्री दोनों एक ही व्यक्ति के साथ विवाह करना चाहती हैं। अतः मंत्री-पुत्री रूपमती की इच्छा जानने के पश्चात् ही निश्चय किया जा सकता है।' राजा ने रूपमती की इच्छा ज्ञात कर ली और तत्पश्चात् उन दोनों का विवाह विराट के राजा शूरसेन के साथ सम्पन्न हो गया। दोनों सखियों ने एक ही पति के साथ विवाह किया और वे साथ-साथ सुख का उपभोग करने लगी।

इन दोनों का सखियों के रूप में सम्बन्ध जन्म से था परन्तु सौतन होने पर वह सम्बन्ध नहीं रहा। अब वे एक दूसरी के छिद्र देखने लगीं और तुच्छ कारण से भी नित्य परस्पर झगड़ने लगीं।

शौक्य थी शूली रुडी कही, नहीं इहां मीन ने मेप रे।

बिहुं जो वहन सगी हुवे, तो ही पण वहे द्वेप रे।।

एक बार तिलकपुरी के राजा को किसी ने एक सुन्दर कावर उपहार स्वरूप भेजी। यह कावर राजा ने तिलकमंजरी को भेज दी। वह उसे नित्य खिलाती और उसके साथ वह मधुरस्वर में बातें करती। वह इस कावर के साथ रूपमती को बात तक करने नहीं देती थी। अतः उसने अपने पिता के पास उसके समान कावर मँगवाई परन्तु उसे कावर नहीं मिलने के कारण उसने कोशी नामक एक पक्षी भेजा। तिलकमंजरी कावर को खिलाती और रूपमती कोशी को खिलाती। दोनों ने उन्हें पालने वाले मनुष्य भी भिन्न भिन्न नियुक्त किये थे।

एक कहे मारी कावर रुडी, एक कहे मुझ कोशी रे।

जिम एक ग्राहके आवे विलगे, पाडोसी बिहु डोशी रे।।

एक बार इन दोनों रानियों में विवाद छिड़ गया। तिलकमंजरी कहने लगी कि मेरी कावर अच्छी है और रूपमती कहने लगी कि मेरी कोशी अच्छी है। दोनों ने पक्षियों से मधुर बुलवाने की शर्त लगाई। कावर ने अनेक मधुर शब्द बोले परन्तु कोशी एक शब्द भी बोल नहीं सकी।

तिलकमंजरी ने रूपमती को चिढ़ाया - 'देख तेरी कोशी? मेरी कावर के हजार

वें भाग में भी यह क्या आ सकती है?

रूपमती हती घणुंए डाही, पण पंखिथी रोपी रे।

आगल भावि कोई न समझे, कुण जाणे कुण जोशी रे।।

रूपमती समझदार एवं सरल थी फिर भी वह होश खो बैठी। उसने कोशी को अत्यन्त पीटा, उसके पंख तोड़ डाले। कोशी के रक्षक ने उसे रोका परन्तु वह विल्कुल नहीं मानी। परिणाम स्वरूप कोशी तड़प तड़प कर मर गई। मरती-मरती को उसकी दासी ने उसे नवकार मन्त्र सुना कर धर्म प्राप्त कराया और उसने ऐसा कार्य करने के लिए रूपमती को भारी उपालम्भ दिया। तत्पश्चात् रूपमती को भी बार-बार पश्चाताप हुआ कि अरे, मैंने पक्षी के प्राण लेकर ठीक नहीं किया। तिलकमंजरी ने तो रूपमती के इस दुष्कृत्य का प्रचार करके उसकी और जैन धर्म की अत्यन्त निंदा की।

रूपमती घणुंए पस्तावे, कोशी ने दुःख देई

पण कीधुं अणकीधुं न होवे

वापडला रे जीवडला तू करजे काम विमासी

विहडे जातु आवतुं विहडे कर्म ए करवत काशी।

रूपमती ने कोशी को मार दिया परन्तु तत्पश्चात् उसे अत्यन्त पश्चाताप हुआ। अब जो कर दिया था वह तो हो चुका। सत्य बात तो यह है कि जीव को कोई भी कार्य पर्याप्त सोच-विचार करके करना चाहिये, ताकि वाद में पश्चाताप न करना पड़े।



रूपमती हती घणीये डाही, पण पंखियो रोपी रे।

आगल भावि कोई न समझे, कुण जाणे कुण जोशी रे।।

वुरा कार्य करते समय भी दुःख देता है, उसी प्रकार उसका फल प्राप्त होता है तब भी वह दुःख देता है।

तत्पश्चात् रूपमती ने तिलकमंजरी के साथ सरसाई (मंत्रणा) करना बन्द कर दिया, स्वभाव में अत्यन्त धीरता लाकर उसने अत्यन्त सुकृत उपार्जन किया।

राजन्! यह कोशी वीरमती रानी बनी क्योंकि मृत्यु के उपरान्त वह गगनवल्लभ राजा की पुत्री वीरमती बनी और उसका विवाह राजा वीरसेन के साथ हुआ। हे राजा! रूपमती वह तू स्वयं चन्द्र, तिलकमंजरी वह प्रेमला लच्छी, साध्वी को फाँसी खाने से रोकने वाली सुरसुन्दरी वह गुणावली, गले में फाँसी खाने के लिए तत्पर साध्वी वह कनकध्वज, कोशी का रक्षक वह सुमति मंत्री और कावर का रक्षक वह हिंसक मंत्री, तिलकमंजरी एवं रूपमती का पति शूरसेन वह शिवकुमार नट, रूपमती की दासी वह शिवमाला और कावर का जीव वह कपिला धाय माता।

*श्रीमुनिसुव्रत जिनजीये भाख्या, इम पूरव भव सहुना रे
सभापति समज समज तू कहिये तुझ किं बहुना रे
कीधुं कर्म जे उदये आवे तिहां नहीं कोईनो चारो रे
काढ्यो छे एम सघले आम आपणो वारो रे।।*

राजन्! तुमने कोशी के पंख उखाड़ दिये थे, अतः वीरमती ने इस भव में उसे पक्षी बनाकर वैर लिया। तिलकमंजरी ने पूर्व भव में साध्वी पर मिथ्या दोषारोपण किया था, अतः इस भव में साध्वी का जीव कनकध्वज कुण्डि के रूप में बन कर प्रेमला लच्छी बनी उस पर विषकन्या का आरोप लगाया।

पूर्व भव में कोशी के रक्षक का रूपमती के समक्ष कुछ नहीं चला, उस प्रकार इस भव में गुणावली का वीरमती के समक्ष रोकने के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं चला। मरती मरती कोशी को रूपमती की दासी ने संकल्प कराया था, अतः कोशी से बनी वीरमती ने दासी से बनी शिवमाला को मुर्गा उपहार में दिया। हे चन्द्र राजा! इस प्रकार तुम्हारे पूर्व भव का अधिकार एवं सम्बन्ध है और इस कारण इस भव के प्रेम अधवा वैर के सम्बन्ध आश्चर्यकारक नहीं हैं। संसार में सर्वत्र इसी परम्परा का साम्राज्य है।

(३)

पूर्वभव का सम्बन्ध श्रवण करके चन्द्र राजा विरक्त हो गया। उसने गुणशेखर को आभा के राज्य-सिंहासन पर बिठाया और मणिशेखर आदि राजकुमारों को अन्य राज्य प्रदान करके प्रसन्न किये।

चन्द्र राजा के साथ गुणावली, प्रेमला, सुमति मंत्री, शिवकुमार, शिवमाला एवं सात सौ रानियाँ दीक्षा अङ्गीकार करने के लिए तत्पर हुईं। गुणशेखर ने दीक्षा का महोत्सव

अत्यन्त शानदार किया और उन सब ने भगवान मुनिसुव्रत स्वामी के कर-कमलों से भाव पूर्वक दीक्षा अङ्गीकार की।

चन्द्र राजा चन्द्रराजर्षि बने। साँप केंचुली उतार कर चला जाता है उसी प्रकार उन्होंने आभा नगरी एवं उसकी ऋद्धि का परित्याग करके संयम ग्रहण किया और सर्वस्व परित्याग कर दिया। विहार के समय गुणशेखर आदि समस्त प्रजाजन आँखों से अश्रु-बिन्दु टपकाते रहे, परन्तु वे तो 'शत्रुमित्रे च सर्वत्रे समचित्तो' बन कर आभा से निकल कर धरातल पर विचरने लगे।

चन्द्रराजर्षि ने संयम ग्रहण करके स्थविर भगवानों के पास ज्ञान-अध्ययन किया और कठोर तप प्रारम्भ किया। फलस्वरूप उन्होंने कर्म क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया।

गुणावली आदि साध्वियों ने भी निर्मल संयम का पालन करके प्रवर्तिनी की आज्ञा में रह कर अपना जीवन उज्ज्वल किया।

केवली भगवान चन्द्र मुनि महात्मा अपना अन्त समय समीप जान कर उपकारक सिद्धाचल पर आये और अन्त में वहाँ एक माह की संलेखना करके सिद्धि पद प्राप्त किया।

सुमति साधु, शिव साधु, गुणावली एवं प्रेमला भी केवलज्ञान प्राप्त करके अनेक जीवों को प्रतिबोध देकर मोक्ष में गये।

शिवमाला आदि साध्वी अनुत्तर विमान में गईं और वहाँ से महाविदेह क्षेत्र में जाकर मुक्ति प्राप्त करेंगी।

इस प्रकार पूर्व भव की लीला समेट कर जगत् को लीला समेटने का उपदेश देने वाला उनका जीवन आज भी अनेक जीवों के लिये उपकारक है।

(४)

चन्द्र राजा का यह चरित्र चन्द्रराजा के रास के आधार पर संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत है।

धर्म एवं भक्ति की ओर जैन जनता को उन्मुख करने के लिए पूर्वाचार्यों ने अनेक गेय साहित्यिक कृतियों की रचना की है, जिसमें रासों का महान् योगदान है। इन समस्त रासों में चन्द्र राजा का रास अत्यन्त रसप्रद है।

इस रास के रचयिता 'वाल्मणे आपण ससनेही' जैसे अनेक स्तवनों के रचयिता नैसर्गिक कवि मोहनविजयजी महाराज हैं। उन्होंने यह रास विक्रम संवत् १७८३ की पोष शुक्ला पंचमी, शनिवार के दिन अहमदाबाद में पूर्ण किया था।

यह रास उस काल में और परावर्ती के काल में अत्यन्त लोकोपयोगी होना चाहिये

क्योंकि उसकी सुन्दर, सचित्र प्रतियाँ आज भी भण्डारों में उपलब्ध हैं।

यह चरित्र मुख्यतया तो सियाल एवं शत्रुंजय की महिमा का उद्बोधक है, परन्तु साथ ही साथ उसमें अनेक सुन्दर विषय हैं।

यह चारित्र अत्यन्त रसमय, रसप्रद एवं धर्म-प्रेरक है रास-कर्त्ता की यह कृति कोई सामान्य कृति (रचना) नहीं है बल्कि काव्य के समस्त लक्षणों से युक्त काव्यकृति है। उसे समक्ष रख कर संक्षेप में यह चरित्र लिखा है।

(चन्द्रराजा का रास से)

(३५)

सीख की रीति

अर्थात्

शान्तु मंत्री का वृत्तान्त

(१)

उत्थान और पतन तो संसार का क्रम है। यह उत्थान-पतन मनुष्य के जीवन में आता है उसी प्रकार काल में, गाँव में, शहर में, जाति में, समाज में और धर्म में भी आता है।

जीव मात्र पर करुणा रखने वाला, प्राण जाने पर भी असत्य नहीं बोलने वाला, अदत्त वस्तु को कदापि ग्रहण नहीं करने वाला, तलवार की धार की तरह ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला और एक कौड़ी का भी संग्रह नहीं करने वाला उत्तम मुनि-जीवन है। इस मुनि-जीवन का वेष धारण करने पर भी उसके आचारों पर ध्यान नहीं देने वाला एक समय में चैत्यवासी साधुवर्ग था। वे चैत्यवासी मुनियों का वेष पहनते, जिनालयों में निवास करते, धन-सम्पत्ति अपने पास रखते और मुनि-जीवन के व्रत से निरपेक्ष रहते थे। उनमें से एक चैत्यवासी मुनि की ही यह कथा है।

(२)

क्षितिप्रतिष्ठित नगर में शान्तु नामक एक वयोवृद्ध मन्त्री थे। उनकी निर्मल बुद्धि, उनके सिर के श्वेत बाल अपना परिचय स्वयं देते थे और उनका वैभव जीवन के रहन-सहन में सदा प्रकट हुए बिना नहीं रहता था। यह सब होते हुए भी यह मंत्री, वैभव एवं कुशाग्र बुद्धि संसार की माया है, परन्तु वास्तविक कल्याण करने का साधन तो धर्म है, जिसे वे भूले नहीं थे, जिसके कारण राज्य-कार्य अथवा संसार के समस्त व्यवहार करने पर भी वे धर्म में चित्त रखते थे।

शान्तु मन्त्री का वैभव भवन, अश्वशाला, हस्तिशाला तथा नौकर-चाकरों में प्रतीत होता था, उसी प्रकार वह वैभव जिनालयों, उपाश्रयों एवं अन्न-भण्डारों में भी प्रतीत होता था। उन्होंने क्षितिप्रतिष्ठित नगर के मध्य में 'शान्तुवसही' नामक शत्रुंजय की टूँक के समान जिनालय का निर्माण कराया था जो अनेक जीवों में बोधिबीज उत्पन्न करने वाला और उसे दृढ़ करने वाला था।

वे नित्य इस जिनालय के त्रिकाल दर्शन करने के लिए आते और जीवन के प्रत्यक

कार्य के समय भी उसके दर्शन करने से चूकते नहीं थे।

एक बार रथ-वाड़ी से हाथी पर सवार होकर लौटते समय वे शान्तुवसही आये। कदम-कदम पर घंटियों का नाद करता हाथी खड़ा रहा। वे हाथी से नीचे उतरे और जब जिनालय के द्वार में प्रविष्ट होने लगे तब निकट के एक कोने पर खड़े एक युवा साधु पर उनकी दृष्टि पड़ी। वह सुन्दर शृंगार की हुई, कजरारे नेत्रों वाली एक रूपवती वेश्या के कन्धे पर हाथ रख कर मुक्त हास्य कर रहा था। शान्तु मंत्री ने उस साधु को अच्छी तरह देखा परन्तु साधु की दृष्टि उन पर नहीं पड़ी। मंत्री ने तुरन्त उत्तरीय ऊपर-नीचे किया और उसके समीप जाकर गौतम स्वामी को वन्दन करते हैं उसी प्रकार विनय पूर्वक उस साधु को 'इच्छामि खमासमणो वंदिउं' कह कर वन्दन सूत्र बोल कर वन्दन किया। वेश्या के साथ छेड़ छाड़ करने वाला साधु बिजली गिरने से मनुष्य चौंक जाये उसी प्रकार ये शब्द सुनकर तुरन्त स्थिर हो गया। मंत्री ने 'स्वामी शाता है जी' कहा। साधु ने सिर हिलाया परन्तु उसके हृदय में से शान्ति कभी की लुप्त हो चुकी थी। साधु विचार करे उससे पूर्व तो वन्दन पूर्ण करके 'मत्थाएण वंदामि' कह कर मंत्री चले गये।

शान्तु मंत्री ने साधु को आक्रोश पूर्ण वचनों में नहीं कहा कि 'महाराज! आप जैन साधु हैं अथवा कौन? आपको जिनालय में रहने दिया है वह क्या ऐसे पाप करने के लिए? चले जाओ, हमें तुम्हारी आवश्यकता नहीं है।' तथा मधुर वचनों से 'महाराज! आपकी लघु वय है। आपको लोग उत्तम साधु मानते हैं और आप इस प्रकार वेश्या



साधु की लज्जा से उसकी कुलीनता भाप कर महामंत्री शान्तु ने विधि पूर्वक वन्दन कर पतन सं उत्थान की ओर उनकी गाडी मोड दी! धन्य हो ऐसे गीतार्थ श्रावक को!

के साथ खड़े रह कर बातें करें उसमें अच्छा नहीं लगता' - ऐसे वचनों के द्वारा सीख भी नहीं दी।

मंत्री भी शान्तुवसही में जिनेश्वर भगवान को वन्दन करके अपने निवास पर लौट आये। मंत्री ने यह बात न तो पुजारी को कही और न गाँव के लोगों को कही, परन्तु उस जैन साधु को लज्जा का पार न रहा। उसे तो ऐसा ही महसूस हुआ कि 'पृथ्वी मार्ग दे तो मैं पाताल में समा जाऊँ।' मैं किस मुँह कल शान्तु मंत्री से वन्दन कराऊँगा और कदाचित् वे इस समय मेरे पास वेश्या खड़ी थी अतः सज्जन मनुष्य की तरह कुछ नहीं बोले परन्तु पूछेंगे कि 'महाराज! यह क्या कर रहे हो?' तो मैं क्या उत्तर दूँगा? साधु पूर्ण पश्चाताप करने लगा। उसने चैत्यवास का त्याग कर दिया, पुनः दीक्षित हुआ और इस पाप की आलोचना के लिए उसने शत्रुंजय गिरिराज का शरण भी ग्रहण किया।

(३)

ग्रीष्म ऋतु का दिन था। मध्याह्न हो गया था। गिरिराज का मार्ग सूर्य की प्रखर किरणों से तवे के समान तप रहा था। उस समय एक मुनि धीरे धीरे देख-देख कर पाँव रख कर उतरते-उतरते गिरिराज की तलहटी पर आये। इन मुनि की देह केवल अस्थिपिंजर तुल्य थी। उन्हें देखने वाला व्यक्ति उनकी हड्डी गिन सकता था, फिर भी उनका मुखारविन्द अत्यन्त ही तेजस्वी था। मुनि की आयु अभी वृद्धत्व को नहीं पहुँची थी, परन्तु तप-कष्ट से व्यतीत किये वर्षों के कारण उनकी वास्तविक आयु निर्धारित नहीं की जा सकती थी।

ठीक उसी समय शान्तु मंत्री गिरिराज से नीचे उतर कर तलहटी पर आये। नित्य क्रमानुसार उन्होंने अपने उत्तरीय को ऊपर-नीचे करके पूँज कर उन तपस्वी मुनिराज को वन्दन किया और सुख-शांता पूछी। उन्होंने कहा, 'भगवन्! आपको मैंने कहीं देखा हो ऐसा प्रतीत होता है, परन्तु कब देखा यह ध्यान नहीं है। मेरी वृद्धावस्था परिचित को भी भूल जाये ऐसी हो गई है। भगवन्! आपका नाम क्या है और आपके गुरुदेव का नाम क्या है?'

मुनि ने कहा, 'मंत्रीवर! मेरे गुरु शान्तु मंत्री आप हैं।'

मंत्रीवर ने कहा, 'महाराज! मैं पामर तो आपका शिष्य बनने के योग्य भी नहीं हूँ।'

साधु बोले, 'वास्तव में आप मेरे गुरु हैं। साधु हो अथवा गृहस्थ, जो जिसको धर्म-दान देकर शुद्ध धर्म में लगाये वह उसका धर्म-गुरु है। अतः उसी प्रकार आपने मुझे धर्म-दान दिया है अतः आप मेरे धर्म-गुरु हैं। वारह वर्ष पूर्व की बात स्मरण करो। आप रयवाडी से फिर कर हाथी से नीचे उतर कर जिनालय में प्रविष्ट हो रहे थे उस

समय एक युवा साधु कोने पर एक वेश्या के कंधे पर हाथ रखकर खड़ा था और आपने उसको वन्दन किया था, स्मरण है?’

मंत्री ने कहा, ‘हाँ महाराज! जीव कर्म-वश है। किसी का उत्थान भी होता है और किसी का पतन भी होता है।’

‘उस साधु को आपने कोई उपालम्भ नहीं दिया। आप वन्दन करके चले गये परन्तु उसके हृदय में उस कृत्य के लिए उसे अत्यन्त लज्जा का अनुभव हुआ, उसे पश्चाताप हुआ। उसने आचार्य भगवन् श्री हेमचन्द्रसूरि के पास पुनः दीक्षा अङ्गीकार की। वह अपने गुरु की आज्ञा लेकर पश्चाताप पूर्वक शत्रुंजय गिरिराज की शीतल छाया में तप करने के लिए आया। भाग्यशाली मंत्रीवर! वह साधु मैं ही हूँ। अतः परमार्थ से आप ही मेरे गुरु हैं। आपने मुझे कोई उपदेश नहीं दिया परन्तु आपके व्यवहार ने ही मुझे धर्म-मार्ग की ओर उन्मुख किया है।’ मुनि ने मंत्री का आभार मानते हुए अपना वारह वर्षों का जीवन-पट उनके समक्ष खोला।

मंत्री बोले, ‘भगवन्! उसमें मैं उपकारी नहीं हूँ। आप ही उत्तम महात्मा हैं जो अनायास ही तर गये। देखो, हम तो अभी तक वैसे ही संसार में गोते खा रहे हैं।’

मंत्री पुनः उन्हें नमस्कार करके अपने निवास पर गये और मुनि ने दीर्घ काल तक उग्र तप करके आत्म-कल्याण किया।

शान्तु मंत्री तो आज नहीं हैं, परन्तु उनका गम्भीर व्यवहार तो आज भी वैसा ही सुनाई देता है।

(उपदेश प्रासाद से)



मुनि बोले, मंत्रीवर! मेरे गुरु शान्तु मंत्री आप हैं! यूँ कह कर पूर्वकालीन घटना को स्मरण करवाया. मंत्री की गम्भीरता एवं मुनि की कुलीनता, दोनों का सुभग मिलन घमत्कार कर गया!

(३६)

यशोधर चरित्र - अधुरी आशा अर्थात्

यशोधर राजा

(१)

अट्ठाई छः हैं - तीन चातुर्मासी की, एक पर्युषण की और दो ओली की। इनमें चैत्र एवं आश्विन की ओली की अट्ठाई शाश्वती अट्ठाई कहलाती हैं।

इन अट्ठाइयों में देवता नन्दीश्वर द्वीप में जाकर अट्ठाई महोत्सव करते हैं। इस छः अट्ठाइयों में चैत्र एवं आश्विन माह की अट्ठाई के दिनों में पूर्व काल में अनेक स्थानों पर धर्म नहीं जानने वाले राजा पशुओं की बलि देते थे और उससे अपना कल्याण मानते थे। ऐसे राजाओं में मारिदत्त नामक राजा ने ऐसा बलिदान प्रारम्भ किया था, जिसमें पशुओं के साथ बत्तीस लक्षण वाले स्त्री-पुरुषों का भी बलिदान दिया जाता था। एक बार बलिदान के लिये बत्तीस लक्षण वाले स्त्री-पुरुषों के रूप में एक साधु-साध्वी बने भाई-बहन को लाया गया। बलिदान के लिए लाये गये इन मुनि के प्रभाव से प्रकृति के वातावरण में परिवर्तन हुआ। जिसके कारण मारिदत्त राजा उस साधु का जीवन-वृत्तान्त जानने के लिये उत्सुक हुआ।

मुनि यशोधर राजा के भव में आटे का मुर्गा बनकर संहार करने से मैंने और उसमें प्रेरक उस भव की मेरी माता ने आठ भवों तक कैसे कष्ट प्राप्त किये उसका वृत्तान्त इतना करुण और हृदय-द्रावक है कि उसे सुनकर श्रावक का रोमाञ्चित हो जाना स्वाभाविक है, वही वृत्तान्त इस यशोधर चरित्र में है।

(२)

राजपुर नगर का राजा था मारिदत्त। वह आखेट, सुरा-पान एवं विलास के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं जानता था। राजा धर्म में केवल अपनी कुल देवी 'चण्डमारी' को पूज्य देवी के रूप में मानता था और वह अनेक जीवों की बलि देने को ही देवी का सच्चा तर्पण मानता था।

चण्डमारी देवी का राजपुर नगर के दक्षिण में मन्दिर था, जिसे देखते ही देवी एवं देवी के भक्त राजा का स्वरूप स्वतः ही समझ में आ जाता था। मन्दिर का द्वार अनेक मृत पशुओं के सिंगों के तोरण से सुसज्जित था। मन्दिर के गढ़ पर स्थान-स्थान पर

कलश की जगह बड़े बड़े भारण्ड पक्षियों के अण्डे रखे हुए थे और जहाँ लकड़ी के दण्ड की आवश्यकता थी वहाँ अनेक प्रकार के पशुओं की हड्डियाँ टेढ़ी-मेढ़ी जमाई गई थीं। देवी के मन्दिर की ध्वजा किसी वस्त्र की नहीं थी, परन्तु अधिक बालों से युक्त पशुओं की पूछों को ध्वजा के स्थान पर लगाया गया था। मन्दिर की दीवारें मारे गये पशुओं के गाढ़े रक्त की तह लगाकर रंगी हुई थीं। यह स्थान था तो देवी का, परन्तु दर्शक उस स्थान को देखते ही भयभीत हो जाता।

मन्दिर के मध्य में देवी की प्रतिमा स्वर्ण के उच्च आसन पर प्रतिष्ठित थी। प्रतिमा का रूप एवं आकृति मन्दिर की भयंकरता से भी अधिक भयंकर थी। देवी के एक हाथ में एक तीक्ष्ण कैंची और दूसरे हाथ में एक मूसल था। उसके गाल दबे हुए, दाँत लम्बे, आँखें गोल और जीभ एक बालिशत जितनी बाहर निकली हुई थी। देवी की पूजाविधि भी उसके अनुरूप ही होती थी। जल के बजाय मदिरा से उसका प्रक्षालन होता था और उस पर धतूरे, आक एवं कनेर के फूल आदि चढ़ाये जाते थे।

(३)

नवरात्रि के दिन आये। देवी के भक्तगण मन्दिर में एकत्रित हुए और उन्होंने राजा को देवी की पूजाविधि सम्पन्न करने के लिए प्रेरित किया, जिसके लिए राजा ने हजारों जलचर, खेचर एवं स्थलचर जीवों की हत्या करवाई। रक्त के कीचड़ युक्त एवं चारों ओर से संहार होते जीवों के कोलाहल में देवी का उपासक राजा बोला, 'सेवको! तुमने मेरी आज्ञानुसार हवन (यज्ञ) की सामग्री सब तैयार की है परन्तु बत्तीस लक्षण युक्त मनुष्य युगल चाहिये जो अभी तक नहीं आया, जिसके अभाव में यह समस्त सामग्री अपूर्ण गिनी जायेगी। तुम सब जगह खोज कर कहीं से पकड़ लाओ!'

उस समय सुदत्त नामक गणधर भगवंत राजपुर नगर में विचर रहे थे। उनके शिष्य अभयरुचि अणगार और उनकी बहन जो साध्वी बनी थी वह अभयमती साध्वी अट्ठम के पारणे के लिए दैवयोग से भिक्षार्थ निकले।

बत्तीस लक्षण युक्त मनुष्यों को खोजने वाले राजपुरुषों की दृष्टि इन दो भाई-बहन साधुओं पर पड़ी। उन्होंने उन्हें बत्तीस लक्षण युक्त मान कर पकड़ लिया और राजा के समक्ष प्रस्तुत किया। अभयरुचि अणगार तो स्थितप्रज्ञ महात्मा थे। उन्हें तो राजसेवकों के पकड़ने से अथवा इस समस्त अशान्ति से तनिक भी क्षोभ नहीं हुआ परन्तु साध्वी अभयमती तनिक क्षुब्ध हुई अतः अभयरुचि ने उन्हें स्थिर करते हुए कहा, 'आर्या! साधुओं को मृत्यु का भय क्यों रखना चाहिये? अमुक निश्चित समय पर अपनी मृत्यु होने का हमें ध्यान हो तो विशेष धर्म-क्रिया करके हम अपनी आत्मा को उज्ज्वल बना सकते हैं। ऐसा प्रसंग हम चाहें तो भी कैसे मिल सकता है? बहन! अच्छा हुआ

कि आज अपना अट्ठम का पारणा नहीं हुआ। हमारी मृत्यु यदि उपवास में हो जाये तो क्या बुरा है?’

साध्वी स्थिर होकर बोली, ‘मुझे मृत्यु का भय नहीं है, परन्तु हमारी मृत्यु इस प्रकार पशु की तरह देवी के सामने बलिदान दिये जाने से उसका दुःख है। परन्तु भाई! जैसे शुभाशुभ कर्म का हमने उपार्जन किया होगा वैसा होगा। शोक करना निरर्थक है मैं अब शोक नहीं करूँगी। आपने मुझे मार्ग पर लगा कर अच्छा किया।

अभयरूचि अण्णगर और अभयमती साध्वी को यज्ञ-कुण्ड के समक्ष लाया गया। सामने राजा खड़ा था और दूसरी ओर तलवार, भाला और अन्य खुले शस्त्र लिये देवी के भक्त खड़े थे। साधु तथा साध्वी ने आँखें मूँद कर पंच परमेष्ठि का स्मरण प्रारम्भ किया। इतने में पृथ्वी काँपने लगी। आकाश में भारी आँधी आई और चारों ओर रेत से आकाश छा गया। क्षण भर में तो प्रकृति में ऐसा ताण्डव हुआ कि ‘बचाओ बचाओ’ की पुकार चारों ओर से होने लगी। किसी मकान की छत उड़ गई, किसी के मकान गिर गये और कुछेक उलट-पुलट हो गये। देवी के मन्दिर में खड़े भक्तों को भी अपने जीवन में सन्देह हुआ कि अब क्या होगा और क्या नहीं होगा?

राजा तथा देवी के उपासक घबरा गये। राजा मन में सोचने लगा, ‘कहो अधवा मत कहो, बलिदान के लिए लाये गये ये स्त्री-पुरुष कोई दैवी-महात्मा है। उनके प्रभाव से ही प्रकृति में यह सब परिवर्तन हुआ है। कैसी सुन्दर रूपवान उनकी देह है? मेरे अन्तर में जन्म से ही हिंसा का वास है, पर इन्हें देखते ही वह लुप्त हो जाती है और उनके प्रति मेरे मन में प्रेम उमड़ता है। यदि मैंने उन पर अपना हाथ उठाया तो वे तो नहीं मरेंगे, परन्तु मैं एवं मेरे समस्त प्रजाजन इनके कोप से मर जायेंगे।’ राजा ने पूछा, ‘महात्मा, आपका नाम क्या है? आप कौन हैं? मेरा अपराध क्षमा करें। राजसेवक भूल गये। आपका तो सत्कार होना चाहिये। आपको पकड़ के लाकर आपका संहार नहीं किया जाना चाहिये।’

मुनि ने कहा, ‘राजन्! मेरा नाम आप क्यों पूछते हैं? वध के लिए लाये गये असंख्य प्राणियों से आप थोड़े ही किसी का नाम पूछते हैं? आपको मनुष्य की बलि चढ़ानी है तो अवश्य मेरी बलि दो। मैं तैयार हूँ। जीवन में मेरी कोई अपूर्ण आशा नहीं है अधवा मेरे बिना संसार में कोई कार्य अपूर्ण रहने वाला नहीं है।’

राजा ने कहा, ‘महात्मा, मैं आपका वध करना नहीं चाहता। मैं आपको पहचानना चाहता हूँ।’

‘राजन्! समस्त जीवों के समान मैं भी हूँ। वन में घास खाकर जीने वाले, किसी का कदापि नहीं खिगाड़ने वाले दीन पशुओं का वध करने में आपको आपत्ति नहीं है तो मेरा वध करने में आपको किस लिए आपत्ति हो? राजन्! बलिदान से शान्ति की

इच्छा रखना सचमुच भ्रम है। रक्त से हाथ धोने से हाथ स्वच्छ नहीं होते। उसके लिए तो निर्मल जल चाहिये। शान्ति एवं कल्याण के लिए तो हिंसा नहीं होती। कल्याण के लिए तो कल्याणकारी कार्य चाहिये। हिंसा तो पर-भव में बहरे, गूंगे और जन्मान्ध बनाती है और दुर्गति के भयंकर कष्ट देती है। मारिदत्त! जब मैं तुम्हारा व्यवसाय देखता हूँ तब तेरे समक्ष मुझे अपने पूर्व भव दृष्टिगोचर होते हैं। मैंने अपने प्रथम भव में केवल आटे का एक मुर्गा बना कर उसका वध किया था। उसके प्रताप से मैं अनेक भवों में भटका हूँ। उन दुःखों का स्मरण करके भी आज मेरा दिल दहल उठता है, जबकि आप तो हजारों जीवों का साक्षात् संहार करते हो। राजन्! आपका क्या होगा? समझदार मनुष्य तो अनर्थ देखकर अनर्थ से बचते हैं, परन्तु राजन्! मैंने तो अनर्थ का अनुभव करके साक्षात् हिंसा का दुःख अनुभव किया है और आप यदि मेरे दृष्टान्त से नहीं रुकोगे तो आपके दुःख की सीमा कहाँ जाकर रुकेगी?’

मारिदत्त का हृदय तुरन्त परिवर्तित हो गया। देवी का हिंसागृह पलभर में अहिंसागृह तुल्य बन गया। वह बोला, ‘मुनि! आपने हिंसा करने के साक्षात् फल का क्या अनुभव किया है? हे भगवन्! मुझे अपना अनुभव बता कर सच्चे मार्ग पर लाओ।’

मुनि ने कहा, ‘राजन्! मैंने प्रथम भव में आटे का मुर्गा बनाकर उसकी हत्या की थी अतः मैं

‘मयूरो नकुलो मीनो मेषो मेषश्च कुर्कुटः’



राजन्! मेरा नाम क्यों पूछते हो? आपको मनुष्य की बलि चढ़ानी है तो मैं तैयार हूँ।
जीवन में मेरी कोई अपूर्ण आशा नहीं है।

मोर, नेवला, माछली, बकरा, पुनः बकरा और मुर्गा बना; और यह मेरे समीप खड़ी साध्वी मेरी वहन है जो प्रथम भव में मेरी माता थी, जिसने इस हिंसा में मुझे प्रेरणा दी थी, जिसके फलस्वरूप वह -

धा सर्पः शिशुमारश्च अजा महिषः कुर्कुटी

‘कुत्ता, साँप, शिशु-मार, बकरी और मुर्गी बनी।’

राजा चौंका, भगवन्! आपका यह समस्त वृत्तान्त आप विस्तार पूर्वक कहें।’ मुनि ने प्रथम भव से अपना वृत्तान्त कहना प्रारम्भ किया।

(४)

‘राजन्! अनेक वर्षों पूर्व की यह बात है। मैं अपना प्रथम भव बता रहा हूँ।

मालवा में उज्जयिनी नगरी है। वहाँ अमरदत्त का पुत्र सुरेन्द्रदत्त राज्य करता था। राजा का नाम सुरेन्द्रदत्त था फिर भी लोग उसे राजा यशोधर कह कर सम्बोधित करते थे, क्योंकि उसके राज्य में प्रजा सुखी थी। रोग और भय तो वहाँ नाम के लिये भी नहीं थे। उसके राज्य में माँगने पर वर्षा होती थी और उसका कहीं कोई शत्रु नहीं था। दशों दिशाओं में उसका यश फैला हुआ था, जिसके कारण वह ‘यशोधर’ कहलाया। राजा के नयनावली नामक पटरानी थी। राजा-रानी अत्यन्त सुखी थे। उनके सुख के फल स्वरूप गुणधर नामक उनके एक पुत्र हुआ। राजा को राजकुमार के प्रति अत्यन्त प्यार था। उसका तो यही विश्वास था कि यह पुत्र मुझसे अधिक योग्य बनेगा और सम्पूर्ण मालवा में मुझसे भी अधिक नाम करेगा। वही यशोधर राजा मैं हूँ।

राजन्! समय व्यतीत होता गया। एक वार मैं रानी के साथ महल के झरोखे में बैठा हुआ था। रानी मेरे बाल गूँथ रही थी और उनमें पुष्प पिरो रही थी। इतने में हाथ में एक श्वेत बाल आया। उसने वह बाल तोड़ कर मेरे हाथ में दिया। रानी के मन से तो यह सामान्य बात थी, परन्तु मेरे हाथ में बाल आते ही विनोद की ओर प्रेरित मेरा मन खेद-मार्ग की ओर मुड़ा। मैंने सोचा, ‘मैं अनेक वर्षों से इन स्त्रियों के साथ विषय-सुख का उपभोग कर रहा हूँ फिर भी मैं सन्तुष्ट नहीं हुआ। मैं समझ कर इन विषयों का परित्याग कर दूँ तो अच्छा है, अन्यथा ये श्वेत बाल कह रहे हैं कि कुछ ही दिनों में मेरा स्वामी यम आकर तुझे उठा ले जायेगा और तुझे विवश होकर ये विषय, यह राज्य और जिन्हें तू प्रिये, प्रिये कहता है वे समस्त रानियाँ तुझे छोड़नी पड़ेगी। अतः समझ कर छोड़ दे।

बालस्य मातुः स्तनपानकृत्यम् युनो बधूसंगम एव तत्त्वम्।

वृद्धस्य चिन्ता चलचित्तवृत्तेरहो न धर्मक्षण एव पुंसाम्॥१॥

संसार में तो मनुष्य बाल्यकाल माता के स्तन-पान में व्यतीत - करता है, यौवन

स्त्रियों के साथ विषय-भोग में व्यतीत करता है और वृद्धावस्था रोग एवं देह की चिन्ता में व्यतीत करता है। धर्म करने का तो उसे समय ही नहीं मिलता। मुझे मृत्यु से पूर्व कुछ धर्म का भाता बाँधना चाहिये। मेरे पूर्वज क्या राजा नहीं थे? उनके पास मुझसे क्या कोई अल्प वैभव था? फिर भी उन सबने सिर पर श्वेत बाल आने से पूर्व यह वैभव छोड़ कर आत्म-कल्याण किया था। जबकि मैं तो सिर पर श्वेत बाल आने पर भी विषयासक्त शूकरवत् रानियों के पीछे पागल बना फिरता हूँ। मैं शुभ दिन देख कर गुणधर कुमार को सिंहासन पर बिठा दूँ और इस माया जाल से मुक्त होकर साधु बन जाऊँ। आहा! कैसा यह सुन्दर एवं निर्मल जीवन है कि जिसमें शत्रु, मित्र सब पर समान दृष्टि, भूमिशयन और वन-प्रदेश में पाद-विहार का आनन्द है।'

'राजन्! ये विचार मैंने मेरे बाल सँवारती नयनावली के समक्ष व्यक्त किया। मेरा विचार सुनकर उसके नेत्रों में आँसू छलक आये। वह रोती हुई बोली, 'प्राणनाथ! गुणधर अभी बालक है। उस पर राज्य का उत्तरदायित्व भला कैसे डाला जा सकता है? संयम ही सत्य है, परन्तु अभी तो चलाओ, इतनी शीघ्रता क्या है? कुमार तनिक और बड़ा हो जाये तो हम दोनों साथ-साथ संयम अङ्गीकार करेंगे।'

राजा ने कहा, 'देवी! जीवन का क्या भरोसा? काल जिसके वश में हो, प्रकृति जिसका मन-चाहा कार्य करती हो वही धर्म के लिए प्रतीक्षा करेगा। मैं तो संयम अङ्गीकार करूँगा ही।'

'यदि आप संयम अङ्गीकार करेंगे तो मैं पति-विहिन बन कर थोड़े ही यहाँ रहूँगी?'



राजा ने कहा, 'देवी! जीवन का क्या भरोसा? काल जिसके वश में हो वही धर्म के लिए प्रतीक्षा करेगा। मैं तो संयम अङ्गीकार करूँगा ही।'

और आपके बिना यहाँ रह कर मुझे क्या सुख का आनन्द लेना है? जहाँ आप वहाँ मैं।'

मैंने कहा, 'रानी! तेरी देह अत्यन्त सुकोमल है। तप करना तेरे लिए सरल नहीं है, क्योंकि वहाँ तो भूमि शयन, पाद-विहार, घर-घर भिक्षा माँगना आदि समस्त क्रियाएँ तेरे लिए अत्यन्त कठिन होंगी और तू साथ आकर मेरे लिए विघ्न-रूप बनेगी। तू तो यहाँ राजकुमार का पालन-पोषण कर और मेरे लिए मार्ग प्रशस्त कर।'

रानी बोली, 'जिसने उसे जन्म दिया है और जिसने आज तक उसका लालन-पालन किया है, उसका भाग्य उसका पालन करेगा। आप उसकी चिन्ता त्याग कर संयम ग्रहण कर रहे हैं, तो मैं उसकी चिन्ता रखकर यहाँ क्यों पड़ी रहूँ? नाथ! आपकी जो गति है वही मेरी गति है।'

(५)

इतने वार्तालाप में सन्ध्या हो गई। मैं भोजन करने चला गया। भोजन के बाद कुछ वार्तालाप करके इसी विचार में लीन मुझे नींद आ गई। नींद तो गहरी आई परन्तु जाग्रत होने पर उस नींद में देखे हुए स्वप्न का विचार करके मैं अत्यन्त चिन्तित हो गया।

मैं अभी शय्या पर से नीचे भी नहीं उतरा कि मेरी माता चन्द्रमती (यशोधरा) वहाँ आई। मैंने शय्या से नीचे उतर कर माता के चरणों का स्पर्श किया, उसे नमस्कार किया, परन्तु माता मेरा म्लान मुख देखकर समझ गई और बोली, 'पुत्र! आज उठते ही उदास क्यों है?'

मैंने उत्तर दिया, 'माता! आज मैंने अत्यन्त ही भयानक स्वप्न देखा है जिसके कारण यह उदासी है।'

'जो हो वह स्वप्न मुझे बता।' माता ने स्वप्न जानने का आग्रह किया।

मैं बोला, 'माता! आज अन्तिम प्रहर में स्वप्न में मैंने एक सुन्दर विशाल महल देखा। उस महल की सातवीं मंजिल तक मैं चढ़ा और सातवीं मंजिल पर लगे हुए स्वर्णमय सिंहासन पर मैं बैठा। इतने में आप वहाँ आई और आपने मुझे धक्का दिया। मैं लुढ़कता हुआ सीधा भूमि पर आया। तनिक समय के पश्चात् जब मैंने ऊपर दृष्टि डाली तो आप भी मेरे पीछे लुढ़कती हुई भूमि पर आ गिरी।'

माता सीने पर हाथ रख कर बोली, 'तत्पश्चात् क्या हुआ?'

मेरे कार्य में माता अन्तराय न डाले इसलिये स्वप्न में कल्पित बात जोड़ कर कहा, 'मैंने इस अधःपतन को टालने के लिए मस्तक का लोच करके मुनि-वेष धारण किया और पुनः सातवीं मंजिल पर चढ़ा। माता! मैंने यह स्वप्न देखा है परन्तु अब तो उक्त

स्वप्न को सत्य करने का मैंने निश्चय किया है। आजकल में ही गुणधरकुमार का राज्याभिषेक करके मैं दीक्षा अङ्गीकार करूँगा।'

माता के नेत्रों से आँसुओं की झड़ी लग गई। वह बोली, 'अन्य बातें सब बाद में। इस दुःस्वप्न का गोत्र (कुल) देवी को प्रसन्न करके पहले प्रतिकार करना चाहिये। दीक्षा कोई दुःस्वप्न का प्रतिकार नहीं है। पुत्र! हमारी गोत्रदेवी महाकाली है। उसके समक्ष समस्त प्रकार के पशु पक्षियों के युगल की बलि देकर उसे प्रसन्न करके तू पहले इस दुःस्वप्न का प्रतिकार कर।'

मैंने अपने कानों में अंगुलियाँ डाल लीं। 'माता! आप यह क्या कह रही हैं? दुःस्वप्न से मृत्यु कल होती हो तो भले ही आज हो जाये, परन्तु मैं निर्दोष प्राणियों की हिंसा तो कदापि नहीं करूँगा।'

माता बिलख-बिलख कर रुदन करने लगी। मैं किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। माता की बात नहीं मानने पर मैं अविनयी गिना जा रहा था और उसके कथनानुसार करने से जीव-हिंसा का महापाप लग रहा था। अतः मैंने तलवार ली और उसे अपना सिर काटने के लिए उठाया, परन्तु सब लोगों ने मुझे पकड़ लिया और मेरी तलवार छीन ली।

माता ने कहा, 'पुत्र! देवी को दिये जाने वाले बलिदान में जीवों की हिंसा वह जीव-हिंसा नहीं है, फिर भी यदि तुझे इसमें जीव-हिंसा ही प्रतीत होती हो तो तू किसी भी प्राणी की आटे की आकृति बना कर उसकी बलि चढ़ा कर देवी को प्रसन्न करें तो क्या आपत्ति है?'

मैंने कहा, मैं तो इस प्रकार देवी को प्रसन्न करने में विश्वास ही नहीं करता, परन्तु यदि आटे का प्राणी बनाकर उसकी बलि चढ़ाना हो तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है।'

इतने में मुर्गे ने बाँग दी।

माता ने गेहूँ के आटे का एक सुन्दर मुर्गा बनाया। मुर्गे की चोंच और उसके पैर हलदी से रंग कर पीले बनाये। उसकी शिखा गेरू से रंग दी और उसकी देह को भी लाख के रंग से रंग दी। दूर से देखने वाले को यह मुर्गा कृत्रिम प्रतीत नहीं होता था। सब को यही प्रतीत होता मानों मुर्गा वास्तविक ही है।

(६)

राजन्! अपनी माता की प्रेरणा से मैंने स्नान किया, लाल वस्त्र धारण किये। वाद्य-यन्त्रों की ध्वनि के मध्य मुर्गे को आगे रख कर हम परिवार सहित कुलदेवी चण्डिका के मन्दिर में आये। मैंने कुलदेवी को नत मस्तक होकर प्रणाम किया और उसके समक्ष

मुर्गा रख कर माता की प्रेरणा के अनुसार मैंने उसे सच्चा मुर्गा मानकर तलवार से उसका वध कर दिया। मुर्गा आटे का था परन्तु माता ने सच्चे मुर्ग के रूप में ही देवी की प्रसादी के लिये उसे पकाया और सीरनी की तरह उसने सबको वितरित किया। माता ने उसकी सीरनी मुझे भी भोजन के रूप में परोसी, परन्तु मैंने वह नहीं ली। अतः माता ने यह कह कर कि तू समझता नहीं है और मुझे उपालम्भ देकर मेरे हाथ पकड़ कर बल पूर्वक उस कल्पित मुर्ग का माँस मेरे मुँह में डाल दिया। मेरे मुँह में उस मुर्ग की सीरनी पड़ते ही माता को अत्यन्त हर्ष हुआ। उसने मन से मान लिया कि देवी को मैंने प्रसन्न कर लिया और स्वप्न का अमंगल नष्ट हो गया, परन्तु वास्तव में तो इस पाप ने मेरे जीवन को भयंकर रूप से मलिन कर दिया और शिखर पर चढ़े हुए मुझे पतन की खाई रूपी पाताल में पछाड़ कर संसार में भटकवाया।

राजन्! तत्पश्चात् मैं अपने शयनागार में आया। नयानावली नेत्र फाड़े हुए मेरी प्रतीक्षा कर रही थी। मैंने कहा, 'प्रिये! आज शीघ्र सोजा। कल राजुकुमार गुणधर कुमार का राज्यभिषेक करना है और परसों मैं संयम अङ्गीकार करूँगा। कल मुझे संसार का यह सब मेला समेटना है। अन्तिम सीख कल तक की है।' रानी ने मेरी बात में 'ठीक-ठीक' कहा परन्तु अधिक रुचि नहीं दिखाई। अतः मैंने सोचा कि इसे नींद आ रही होगी और मैंने बोलना बन्द कर दिया। पलंग पर चुपचाप नेत्र मूँद कर एक के पश्चात् एक कल किये जाने वाले कार्यों का और भविष्य के विचारों का चिन्तन करता



अपनी इच्छा न होते हुए भी अन्य धर्मी-माता के आग्रह से राजा ने आटे के मुर्ग की हत्या की। परिणामतः भवांतर में पशु बन कर अपने ही पुत्र के हाथों से अनेक बार बलि को प्राप्त होना पड़ा!

हुआ कुछ भी बोले बिना लेटा रहा। अतः नयनावली समझी कि मैं नींद ले रहा हूँ और वह उठ बैठी और धीमी कदमों से शयनागार से बाहर निकली। मैं चौंका, मेरे विरह से दुःखी होकर यह कहीं आत्महत्या नहीं कर ले। मैं भी उसकी रक्षा के लिए हाथ में तलवार लेकर उसके पीछे चल दिया। शयनागार से बाहर आकर नींद करते कुबड़े सन्तरी को उसने मधुर वचन कह कर जगाया। मैंने समझा कि मेरे सम्बन्ध में कुबड़े को कोई विशेष कार्य वताने के लिए यह आई प्रतीत होती है, परन्तु सन्तरी ने जाग्रत होते ही 'कुलटा! इतना विलम्ब क्यों किया?' यह शब्द बोला अतः मैं समझा कि रानी व्यभिचारिणी है, कुलटा है; फिर भी अभी तक मेरे मन में यह निश्चय नहीं हुआ था। मैं मानता था कि कदाचित् यह नींद में बोलता होगा। उसने एक डण्डा लिया और नयनावली की चोटी पकड़ कर दो-तीन जमा ही दिये। नयनावली उसके पाँव पकड़ कर कहने लगी, 'नाथ! मैं क्या करूँ? राजा को नींद आये तब आऊँ न? मैं कोई स्वतन्त्र थोड़े ही हूँ? मेरा अपराध क्षमा करें, स्वामी! मैं पुनः ऐसा नहीं करूँगी।' मैं इस पर गहराई से विचार करता, इतने में तो मेरे समक्ष एक के पश्चात् एक नवीन दृश्य प्रारम्भ हुए। कौआ और कोयल जैसे परस्पर एक दूसरे पर आसक्त होते हैं उस प्रकार उसी कुबड़े ने और नयनावली ने शयनागार के बाहर समागम किया।

मैंने अपनी रानी का यह चरित्र अपनी आँखों से देखा। सामान्य मनुष्य भी पत्नी का भ्रष्ट चरित्र सुन कर क्रोधावेश में न करने योग्य कार्य भी कर डालता है तब मैं तो राजा था। मेरे हाथ में तलवार थी और रानी का दुराचरण मैंने अपनी आँखों से देख लिया था। अतः मेरे हृदय में वैराग्य का जो झरना प्रकट हुआ था वह देखते ही देखते अदृश्य हो गया। मैंने क्रोधावेश में तलवार म्यान से बाहर निकाली, परन्तु मैं सर्व प्रथम इस कुलटा रानी का संहार करूँ अथवा कृतघ्न कुबड़े का संहार करूँ - इस विचार में दूसरे ही क्षण विचार आया कि मेरी इस तलवार ने मदनमत्त हाथियों के समूह का संहार किया और भयंकर शत्रुओं के सिर काटे हैं, उसे मैं एक पामर कुबड़े पर क्यों चलाऊँ? तदुपरान्त कल मुझे संयम ग्रहण करना है इस समय मैं इस कुलटा का संहार करके स्त्री-हत्या का पाप क्यों लूँ?

मुझे नयनावली एवं कुबड़े दोनों पर दया आई। मैंने तलवार म्यान में डाल दी। उनके छिद्र देखने का अथवा उनके जीवन में रुचि लेने की मेरी इच्छा नहीं हुई।

अनृतं साहसं माया, मूर्खत्वमतिलोभता।

अशीचं निर्दयत्वं च, स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः।।

असत्य, साहस, माया, मूर्खता, अति लोभ, अपवित्रता एवं क्रूरता स्वाभाविक तौर से स्त्रियों में होती हैं - यह सूक्ति मुझे अक्षरशः सत्य प्रतीत हुई। उक्त दृश्य देख कर मुझे अत्यन्त खेद हुआ था, फिर भी मेरा मन संयम में दृढ़ नहीं होता तो मैंने उन दोनों

के तत्क्षण प्राण हर लिये होते। राजन्! मैंने इसे संयम ग्रहण करने का प्रबल कारण माना। मैं नयनावली के प्रति मोह रखता था वह कितना अधिक मिथ्या था वह मुझे स्वतः ही समझ में आ गया और संयम लेने में जिस रानी का मोह छोड़ना कठिन प्रतीत होता था वह स्वतः ही कम हो गया। राजन्! मैं तुरन्त वहाँ से लौटा और पलंग पर जाकर सो गया, मुझे गहरी नींद आ गई।

(७)

वैतालिकों के प्रभाती गाते ही मैं शय्या में से तुरन्त उठ बैठा। मैंने कारागार से कैदियों को मुक्त कर दिया, अपराधियों के दण्ड क्षमा कर दिये, याचकों को दान दिया ऐसे उत्तम कार्य करके मैंने गुणधरकुमार का राज्याभिषेक किया। इन समस्त कार्यों में नयनावली ने पूर्ण सहयोग दिया। उसका गत रात्रि का कुकर्म जानते हुए भी मैंने उसे कुछ भी नहीं कहा। कुछ भी नहीं हुआ हो उस प्रकार मैंने उसके साथ व्यवहार किया।

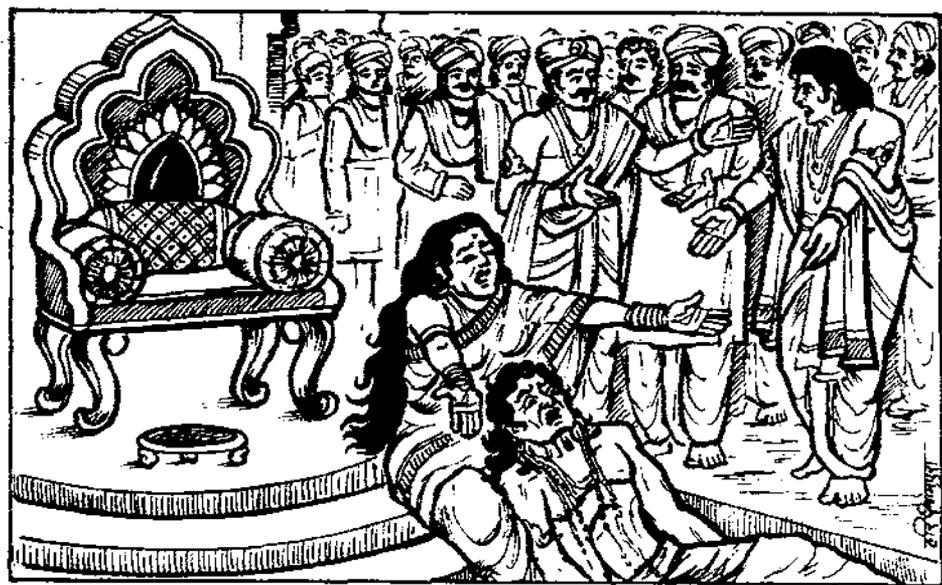
राज्याभिषेक के पश्चात् स्नेही, परिवार-जन एवं गुरुजन सब भोजन-मण्डप में भोजन के लिए एकत्रित हुए। मैंने सबको प्रेम पूर्वक भोजन कराया और उन्हें उचित उपहार देकर उनका सत्कार किया। नयनावली उस समय अत्यन्त गहन विचार में थी। वह सोच रही थी कि यह राजा प्रातःकाल में दीक्षा अङ्गीकार करेगा। मैं यदि इनके साथ दीक्षा अङ्गीकार न करूँ तो लोग मेरा उपहास करेंगे कि कैसी स्वार्थी यह रानी है कि राजा ने संयम ग्रहण किया और यह घर में पड़ी रही? परन्तु उन्हें कहाँ पता था कि रानी का प्रियतम राजा नहीं परन्तु कुवड़ा है। राजा के साथ दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् वह पुनः थोड़े ही मिलने वाला है? मुझे दीक्षा ग्रहण न करनी पड़े, लोगों में मेरा बुरा न लगे और कुवड़े का सुख सदा आनन्द पूर्वक बिना किसी रुकावट के उपभोग कर सकूँ ऐसा कोई उपाय मिले तो कितना अच्छा हो? उसने गहराई से विचार करके निश्चय किया कि किसी भी प्रकार से राजा का वध करना है। यह राजा यद्यपि निर्दोष है, उसने मेरा कुछ भी विगाड़ा नहीं है। वह राज्य का परित्याग करके धर्म करने के लिए तत्पर हुआ है। उसका वध करना अत्यन्त बुरा है, परन्तु यदि मैं ऐसा न करूँ तो मेरे विषय-सेवन में अन्तराय होगा। ये विषयों के उपभोग मुझे वाद में थोड़े ही मिलने वाले हैं?

(८)

राजन्! तत्पश्चात् मैं भोजन करने के लिए बैठा तब एक सुन्दर मसालेदार पकौड़ा मेरी थाली में परोसा गया। मैंने सरल भाव से उक्त पकौड़ा खा लिया। मैं भर-पेट भोजन

करके सिंहासन पर बैठ कर पान-सुपारी खाने लगा तब मेरी देह टूटने लगी, नेत्र जलने लगे, नसें खिंचने लगी, जीभ छोटी होने लगी, कानों के पर्दे तड़-तड़ की ध्वनि करते हुए टूटने लगे, दाँत गिरने लगे और नाक के नथूने फूल कर धम्मण की तरह आवाज करने लगे। मैं सिंहासन पर से लुढ़क गया। मैं बोलना चाहता था फिर भी जीभ छोटी पड़ जाने के कारण कुछ भी बोल नहीं सका। मेरा चतुर प्रतिहारी समझ गया कि किसी ने राजा को भोजन में विष दे दिया है। वह रोते हुए बोला, 'मंत्रियो! वैद्यो एवं तान्त्रिकों को बुलाओ और राजा को चढ़ा हुआ विष उतारो, विलम्ब मत करो।'

ये शब्द सुनते ही रानी नयनावली चौंकी। उसके मन में विचार आया कि तान्त्रिकों एवं वैद्यों ने विष उतार दिया तो मेरी दुर्गति होगी और सारी योजना विफल हो जायेगी। नाक-कान काट कर मुझे गधे पर विठाकर सारे नगर में घुमाया जायेगा और इस प्रकार अन्त में मैं दुर्दशा में मरूँगी। अतः रानी छाती पीटती हुई कदम-कदम पर पछाड़ें खाती हुई 'हे नाथ! यह क्या हो गया? मेरे मन के मनोरथ मन में ही रह गये, कौन शत्रु उत्पन्न हुआ कि सबका कल्याण करने वाले मेरे स्वामी की उसने यह दशा की? बाल विखेर कर, वस्त्रों को मार्ग में डालती हुई जहाँ मैं पीड़ा के कारण तड़पता हुआ पड़ा था वहाँ आई और सिसक-सिसक कर रुदन करने लगी, 'हे प्राणनाथ! कह कर मेरे गले से लिपट गई। उसने अपने केश-कलाप मेरे मुँह पर ऐसे डाल दिये कि उनके भीतर क्या हो रहा है यह कोई जान न सके। वह 'हे स्वामी! अब मेरा कौन सहारा होगा? आप



अधर्मिणी, दुराचारिणी कुलटा रानी ने दीक्षा लेने चले अपने पति को विषाक्त भोजन से मृतप्रायः कर लोगो के समक्ष नाटक करना भी नहीं भूली! अहो! संसार की विचित्रता!

मुझे छोड़ कर कहाँ चल दिये? अब मैं कैसे जीवित रहूँगी? प्राणनाथ! एक बार तो इस दासी को बुलाओ', यह कहती हुई पुनः पुनः सिसक-सिसक कर रोती हुई उसने मेरे गले को अंगूठे से दबाया। विष की पीड़ा से मेरे भीतर आग सी लग रही थी उसमें इस पीड़ा ने और वृद्धि की। मैं पीडा के कारण चीखता हुआ, क्रोध के कारण तमतमाता हुआ, जीवन के लिए लालायित और वैर में तड़पता हुआ मर गया। विचारे सरल प्रकृति के लोगों ने रानी के इस व्यवहार को मेरे प्रति अनन्य प्रेम समझा। कोई भी मनुष्य यह नहीं समझ सका कि मेरा प्राण लेने वाली मेरी रानी नयनावली है। मैं यह सब समझा परन्तु कह नहीं सका। इस प्रकार द्वेष में जलते हुए मेरी मृत्यु हो गई।

तान्त्रिक एवं वैद्य आये तब तक तो मेरी आत्मा देह का परित्याग करके परलोक पहुँच चुकी थी। मेरे पीछे आये वे अत्यन्त रुदन करते रहे।

राजन्! मेरी संयम की भावना, राज्य-सिंहासन का त्याग करके गुरु की शरण में रह कर पाद-विहार करते हुए विचरण करने की उत्कण्ठा, द्वार-द्वार घूम कर भिक्षा लाकर जीवन-निर्वाह करने की अभिलाषा और शत्रु-मित्र के प्रति समान दृष्टि रखने की लगन; यह सब एक ही पल में ध्वस्त हो गया और मैं उससे विपरीत दिशा में क्रोध, मोह, एवं द्वेष की तह में लिपटा जाता मानव भव खोकर अनेक भवों में भटका। राजन्! मुझे तो प्रतीत होता है कि यह सब प्रताप आटे के मुर्गे का वध करने का है। वह उग्र पाप तुरन्त मेरे उदय में आया और वर्षों तक जो त्रिया-चरित्र मुझे ज्ञात नहीं हुआ वह त्रिया-चरित्र उसी दिन ज्ञात हुआ जिसके द्वारा मेरी सम्पूर्ण विचारधारा में परिवर्तन हो गया। मैं अशरण बन कर मृत्यु का शिकार हुआ। मेरी आशा अपूर्ण रही। भयंकर अन्तराय कर्म के उदय से ये दो दिन मेरे ठीक व्यतीत नहीं हुए। मैं अचानक बुरी मौत मरा। मेरी कुमौत हुई, जो स्वप्न में मैंने स्वयं को सातवीं मंजिल पर चढ़ा हुआ और वहाँ से गिरा हुआ देखा था, वह स्वप्न सच्चा निकला क्योंकि मैं संयम-भाव से सातवीं मंजिल पर चढ़ा भी सही और आटे के मुर्गे की हत्या से मैं सातवीं मंजिल से गिरा भी सही। यह सातवीं मंजिल से मेरा अधःपतन हुआ वह मुर्गे की हिंसा करने के कारण हुआ। स्नेही माता ने इस दुःस्वप्न को टालने के लिए मुर्गे की हिंसा करवाई, परन्तु वास्तव में उक्त हिंसा दुःस्वप्न टालने के लिए कारणरूप नहीं बनी इसके विपरीत उसने उस दुःस्वप्न को फलदायी बनाया। कीचड़ कदापि शुद्धि करता है? उसी प्रकार हिंसा कभी अमंगल को टालती है? वह तो अमंगल की वृद्धि करती है। उसी प्रकार मेरे जीवन में उस वलिदान ने अमंगल की वृद्धि करके मुझे संसार में डुबाया।

मेरी माता के मेरे पास आने से पूर्व तो मेरी मृत्यु हो गई थी। वह मेरी मृत्यु देख नहीं सकी। मुझे देखते ही उसके हृदय पर भयंकर आघात हुआ और जिस स्थान पर मेरी मृत्यु हुई थी उसी स्थान पर मेरा दुःख देख कर उसकी भी मृत्यु हो गई।

राजन्! मुर्गे का वध करने वाले और उसकी प्रेरणा देने वाले हम दोनों की मृत्यु हो गई।

यह मेरा प्रथम भव है। कृत्रिम हिंसा भी कैसी अनर्थकारी है यह वृत्तान्त उसी का सूचक है।

अहो नु खलु नास्त्येव जीवघातेन शान्तिकम्।

मूढवैद्यप्रयुक्तेन कुपथ्येनेव पाहवम् ॥११॥

अशान्तिं प्राणिनां कृत्वा कः स्वशान्तिकमिच्छति।

इभ्यानां लवणं दत्त्वा, किं कर्पूरं किलाप्यते? ॥१२॥

मूर्ख वैद्य द्वारा बताया गये कुपथ्य से आरोग्य नहीं होता उसी प्रकार जीव-हिंसा से कदापि शान्ति नहीं होती। जीवों को अशान्ति करके कौन मूर्ख अपनी शान्ति की इच्छा करेगा? वणिक् को नमक देकर कर्पूर की इच्छा क्या कभी सफल होती है?

(३७)

दुःख की परम्परा
अर्थात्

दूसरा, तीसरा, चौथा भव

(१)

राजन्! मैं यशोधर मर कर पुलिन्दगिरि पहाड़ के एक वन में मोरनी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। इस कुक्षि में मैंने गर्भावास के असह्य कष्ट सहें और तत्पश्चात् मेरा जन्म हुआ। मेरा वचन समाप्त होने पर मैं युवा हुआ। मैं अत्यन्त सुन्दर था अतः किसी कोतवाल ने मुझे पकड़ा और मेरे पूर्व भव के पुत्र गुणधर राजा को उसने उपहार स्वरूप दे दिया।

मेरी माता चन्द्रमती (यशोधरा) वहाँ से मर कर धान्यपुर नगर में एक कुतिया की कुक्षि से कुत्ते के रूप में उत्पन्न हुई। यह कुत्ता भी डीलडौल तगड़ा और सुन्दर हुआ अतः उसके स्वामी ने घूमते-घूमते उसे भी मेरे पुत्र गुणधर को उपहार में दे दिया।

राजन् मारिदत्त! मैं मोर और मेरी माता कुत्ती दोनों घूमते-घूमते पुनः अपने पूर्व के घर आये। पूर्व भव के स्नेह के कारण गुणधर को हमें देखते ही अत्यन्त उल्लास हुआ। जिस प्रकार जीव अपने माता-पिता की सुरक्षा करते हैं उसी प्रकार उसने हम दोनों की सुरक्षा की। हमारे लिए उसने स्वर्ण के आभूषण बनवाये, रहने के लिए सुन्दर स्थान दिया और भोजन के लिए उसने सदा हमारी देख-भाल की। कुत्ते के लिए उसने एक थान-पालक रखा और मेरे लिए भी उसने एक अलग सेवक नियुक्त किया। मैं वहाँ कभी महल की छत पर घूमता तो कभी राजा की राज्य-सभा में क्रीड़ा करता। इस प्रकार हम समय व्यतीत करने लगे।

(२)

एक बार मैं महल की ऊपरी मंजिल में घूम रहा था तब मेरी दृष्टि एक कक्ष में कुवड़े के साथ विषय-भोग करती नयनावली पर पड़ी। यह देखकर मैं विचार में पड़ा कि मैंने इन दोनों को कहीं देखा है। इस विचार की गहराई में उतरने पर मुझे जातिस्मरणज्ञान हुआ। मैंने कुवड़े और नयनावली को पहचान लिया। मेरे नेत्रों में क्रोध

उभर आया। मैंने शूरता से कूद कर खिड़की में होकर कमरे में प्रवेश किया और चाँचे मार-मार कर नयनावली को तंग करने लगा। नयनावली भोग में यह अन्तराय सहन नहीं कर सकी। अतः उसने अपनी स्वर्ण की करधनि से मुझे क्रूरता पूर्वक मार कर सीढ़ी के पास ढकेल दिया। मैं निश्चेष्ट वन कर सीढ़ी से लुढ़क गया और भूतल पर आ पहुँचा। उस समय मोर को वचाओ-वचाओ करती हुई दासियाँ दौड़ी आईं और यह देखकर राजा गुणधर भी 'मोर को पकड़ लो, पकड़ लो' करता हुआ आया। इन सब में से कोई पकड़ता उससे पूर्व तो वह स्वामिभक्त कुत्ता दौड़ा और मुझे गले से पकड़ कर भागा। राजा के 'मोर को छोड़ दे' कहने पर भी उसने मुझे नहीं छोड़ा अतः क्रोधावेश में उसने बल पूर्वक स्वर्ण की करधनि मार कर उसे मार दिया। कुत्ता तड़प कर नीचे गिर पड़ा और मैं मोर भी उसके मुँह में से कूद कर तड़प कर मर गया।

गुणधर राजा ने 'हे प्रिय मोर! हे कुक्कुर!' कहते हुए अपने सगे माता-पिता के मरने पर विलाप करे ऐसा विलाप किया परन्तु हमारे प्राण तो कभी के परलोक पहुँच गये थे।

राजा ने हमारा अग्नि-संस्कार चन्दन की चिता में किया। हमारे पीछे हमारे कल्याण के लिए उसने याचकों को दान दिया, ब्राह्मणों को भोजन कराया परन्तु उस समय उस में से हमें कुछ भी नहीं मिला। यदि मनुष्य की भाषा होती तो अवश्य राजा गुणधर को वह बात उस समय कहता।



राजा यशोधर मोर के भव मे अपनी दुराचारिणी पत्नि को चाँच से आक्रमण करता हुआ. अपने ही पाँच के हाथों मौन पाता हुआ माता का जीव कुत्ते के रूप में. अहो! संसार की असाहता!

तीसरा भव

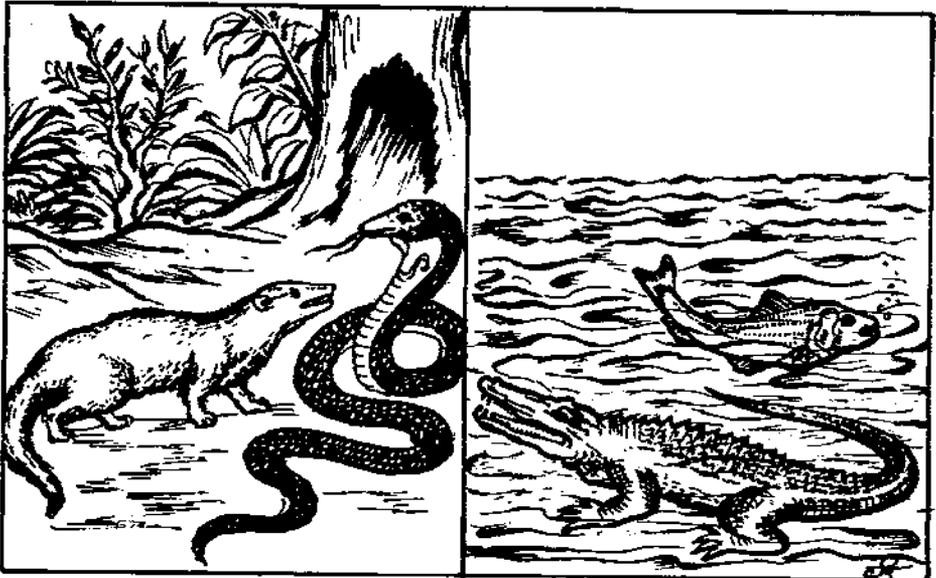
(३)

राजन्! मेरा तीसरा तथा चौथा भव हिंसा का है और उत्तरोत्तर हिंसा की अभिवृद्धि करने वाला है।

मैं मोर की देह छोड़ कर दुःप्रवेश नामक वन में नेवले के रूप में उत्पन्न हुआ। उस भव में मैंने अनेक जीवों की हिंसा करके अपनी देह परिपुष्ट की।

मेरी माता का जीव कुत्ते की योनि का त्याग कर इसी वन में साँप के रूप में उत्पन्न हुआ। भवितव्यता के योग से हम दोनों का इस वन में पुनः मिलाप हुआ, परन्तु पूर्व भव की शत्रुता होने से मैंने साँप को पूँछ से पकड़ लिया, साँप ने भी टेढ़ा मुड़ कर मुझे डसा। हम दोनों परस्पर इस तरह लड़ रहे थे। इतने में जरक्ष नामक एक भयंकर प्राणी आया और उसने मुझे उठा कर बलवान व्यक्ति किसी लकड़े को चीर डालता है उसी प्रकार उसने मुझे जीवित चीर डाला और वह तुरन्त मेरा रक्त पी गया। अनाथ की तरह उस समय मेरी मृत्यु हो गई। मेरे पश्चात् अल्प समय में ही वह साँप भी मेरे प्रहार से दुःखी होकर मर गया।

राजन्! कर्म की कैसी अद्भुत कला है कि वह एक हाथ से जैसा जीव लेता है वैसा ही दूसरे हाथ से देता है। पूर्व भव में कुत्ते ने मोर को मारा था, इस भव में मोर



तीसरा भव :
यशोधर नेवले के रूप में
व यशोधरा सर्प की योनि में।

चौथा भव :
यशोधर मत्स्य की योनि में
व यशोधरा प्रहा के रूप में।

के जीव बने नेवले ने साँप को मारा। इस प्रकार हमारी शत्रुता की भव-परम्परा अज्ञान में परस्पर अत्यन्त ही बढ़ती चली गयी।

चौथा भव

(४)

राजन्! चौथे भव में हम दोनों स्थलचर से जलचर बने। मैं रोहित मत्स्य बना और मेरी माता का जीव भयानक ग्रहा बना। इस ग्रहा ने मुझे देखा तो उसे तुरन्त क्रोध आ गया और उसने अपना तंतु-जाल फैला कर मुझे पकड़ लिया।

इसी बीच नयनावली की दासी चिल्लाती हुई हम जिस सरोवर में थे उसमें कूद पड़ी। ग्रहा की दृष्टि बदल गई। उसने मुझे दूर फेंक दिया और दासी को पकड़ लिया। दासी चिल्ला उठी अतः मछुए सब एकत्रित हुए। उन्होंने दासी को बचा लिया और साथ ही साथ उस ग्रहा को सरोवर के तट पर लाकर वृक्ष के विशाल तने की भांती उन्होंने उसको काट कर टुकड़े टुकड़े कर दिये।

मैं ग्रहा के जाल में से मुक्त होकर कीचड़ में शय्या का सुख अनुभव कर रहा था। इतने में मछुए ने मुझे पकड़ लिया और गुणधर राजा को साँप दिया। राजा मुझे देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने नयनावली को कहा, 'माताजी! आज मेरे पिता और दादी की तिथि है, इस सुन्दर मत्स्य से उसका श्राद्ध करें तो क्या धुरा है? इस मत्स्य की पूँछ ब्राह्मणों को दान में दो और अन्य समस्त भाग हमारे लिये पकाओ।'

रानी ने पुत्र की बात में सम्मति दी। राजन्! मुझे मेरे पुत्र ने ही पकाया। मेरी प्रत्येक नाड़ी खींची गई और जिसके निमित्त श्राद्ध कर रहे थे उसका ही उन्होंने जीव लिया। उसका उनको किसी को भी कोई पता नहीं था।

मेरे माँस को पका कर मेरे पुत्र, पत्नी तथा उसके परिवार ने उमंग से खाया राजन्! यह मेरा चौथा करुण भव है।

स्वयं मज्जति दुःशीलो मज्जत्यपरानपि,
तरणार्थं समारूढा, यथा लोहमयी तरी।

जिस प्रकार लोहे से निर्मित नाव स्वयं डूबती है और अन्य व्यक्तियों को डूबाती है, उसी प्रकार दुःशील गुरु स्वयं डूबता है तथा अन्य व्यक्तियों को डूबोता है।

जैन शास्त्रों में पाप करने वाले एवं कराने वाले दोनों को समान फल प्राप्त होता है। मैंने आटे का मुर्गा बना कर उसका वध किया और माता ने उसके लिये प्रेरणा दी। इसके फल स्वरूप दूसरे भव में मैं मोर बना और माता कुत्ता बनी। तीसरे भव में मैं नेवला बना और माता साँप बनी। चौथे भव में मैं मत्स्य बना और माता ग्रहा बनी। हम दोनों ने ही दुःख प्राप्त किये।

(३८)

माता-पिता का वध
अर्थात्

पाँचवां एवं छठा भव

(१)

राजन्! अब आप मेरा पाँचवा एवं छठा भव सुनो। माता प्रहा के भव में से बकरी हुई और मैं उसके ही गर्भ से पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। जन्म होने के पश्चात् कुछ ही समय में हृष्ट-पुष्ट बकरा बन गया।

पशुओं में विवेक तो होता नहीं। विवेक हीन युवा बकरे के रूप में मैं अपनी माता के साथ ही विषय-भोग करने लगा। मैं माता के साथ विषय भोग कर विश्राम ले रहा था इतने में समूह के अधिपति ने वाण मार कर मुझे मार डाला। कर्म-संयोग से वहाँ से मर कर मैं अपने ही वीर्य से माता की कुक्षि में पुनः बकरे के रूप में उत्पन्न हुआ। इस भव में मेरी माता वह पत्नी बनी और पुनः माता बन गई।

एक वार जंगल में घूमती हुई इस बकरी पर राजा गुणधर की दृष्टि पड़ी। राजा



पाँचवाँ भव :

यशोधर बकरे के भव में,
यशोधरा बकरी के रूप में.

छठा भव :

पुनः यशोधर बकरे के रूप में रोम-रोम में
कुष्ठ रोग से प्रसिद्ध नयनावलि की निरखता हुआ.

को शिकार में सफलता न मिलने के कारण उसने इस बकरी को तीर से मार दिया। परन्तु समीप आने पर ज्ञात हुआ कि यह गर्भवती है। अतः उसने उसका गर्भ चीरवा कर बच्चे को बाहर निकाला जिसे बकरी का दूध पिला कर बड़ा किया।

राजन! बकरे का बच्चा बन कर मैं गुणधर के वहाँ आनन्द पूर्वक रहने लगा। समय व्यतीत होते-होते मैं हृष्ट-पुष्ट बकरा बन गया।

(२)

एक वार राजा गुणधर ने दस पन्द्रह भैंसे मारे और उन्हें देवी के समक्ष रखा। तत्पश्चात् उनका माँस पका कर ब्राह्मणों को भोजन के लिए दिया। राजा के भोजन-गृह में इस निमित्त उत्तम 'रसवती' तैयार हुई। ब्राह्मण दो पंक्तियों में भोजन करने बैठे - 'मेध्यं मूखं हि मेषाणाम्' इस वेदोक्ति से मुझे भी रसोईघर में लाया गया। राजा ब्राह्मणों से आशीर्वाद प्राप्त करने आया। उसने सर्व प्रथम पहली पंक्ति में खड़े ब्राह्मणों को प्रणाम किया और कहा, 'ब्राह्मणों की इस पंक्ति को भोजन कराने का फल मेरे पिता को प्राप्त हो।' तत्पश्चात् उसने दूसरी पंक्ति को नमस्कार किया और कहा, 'इस दूसरी पंक्ति को भोजन कराने का फल मेरी दादी को प्राप्त हो।' ब्राह्मण बोले - 'राजन! आपका कल्याण हो! आपके पिता हमारे इस ब्राह्मण देह में संक्रमण करके पिण्ड ग्रहण कर स्वर्गलोक में सुख भोग रहें हैं।'

यह सुन कर मुझे जातिस्मरणज्ञान हुआ और मैं सोचने लगा यह कैसी कपट-लीला है। जिसके निमित्त राजा गुणधर यह दान कर रहा है वह तो मैं दुःखी हूँ। उन्हें दिया हुआ मुझे तो तनिक भी प्राप्त नहीं होता।

तत्पश्चात् राज्य-परिवार, दास-दासियों सबको देख कर मैं बोला, 'यह मेरा महल है, ये मेरे सेवक हैं, यह मेरा भण्डार है, मैं 'मेरा-मेरा' कह कर प्रफुल्लित हुआ और मैं 'में में' की आवाज करने लगा, पर किसी ने मुझे कुछ भी महत्व नहीं दिया।

(३)

ब्राह्मणों के भोजन-समारोह के पश्चात् अन्तःपुर की स्त्रियाँ आईं। वे मेरे वियोग के कारण अशक्त हो गई थीं, परन्तु इनमें मैंने नयनावली को नहीं देखा अतः मैंने माना कि या तो वह अस्वस्थ हो गई होगी या उसका देहान्त हो गया होगा, अन्यथा, ऐसे उत्सव में तो उसे अत्यधिक रुचि है। अतः वह अपने पुत्र के इस उत्सव में आये बिना रहती ही नहीं।

मैं इस प्रकार विचार कर ही रहा था कि दो दासी परस्पर वार्त्तालाप करती हुई बोलीं - 'यहाँ इतनी अधिक दुर्गन्ध किस वस्तु की है?'

दूसरी दासी ने कहा, 'जहाँ पशुओं का वध करके माँस पकाया जाता है वहाँ दुर्गन्ध नहीं होगी तो क्या होगा?'

प्रथम दासी बोली - 'तुरन्त मारे हुए पशुओं के माँस में दुर्गन्ध नहीं होती, यह तो पास खड़े ही न रह सकें वैसी दुर्गन्ध आ रही है।'

दूसरी ने कहा, 'सत्य बात है। यह पशु-वध की दुर्गन्ध नहीं है परन्तु नयनावली के रोम-रोम में कुष्ठ हुआ है उसकी यह दुर्गन्ध है। उसने पूर्व उत्सव में रोहित मत्स्य का माँस टूँस टूँस कर खाया था। फलस्वरूप उसे भयंकर अजीर्ण हुआ और उसको कुष्ठ हुआ है।'

पहली दासी बोली - 'अजीर्ण से रोग होने की बात मत कर। इस पापिन को तो पत्थर खाने पर अजीर्ण नहीं होगा, परन्तु निर्दोष राजा को इसने विष देकर मार डाला था उसका पाप इसके इसी भव में उदय हुआ है। सखी! क्रूर पशु-पक्षी भी न करें वैसा उग्र पाप इसने अपने पति को मार कर किया है। कुष्ठ होना तो इस भव का कष्ट है, परन्तु पर-भव में तो इसे नरक भोगनी ही पड़ेगी।'

दूसरी दासी ने कहा, 'सत्य बात है, उसकी ओर मत जाओ। यदि इसका मुँह देखोगे तो अपना दिन व्यर्थ जायेगा।'

(४)

वे दो दासियाँ तो चली गईं परन्तु मेरी इच्छा नयनावली को देखने की हो गई। अतः मैं जहाँ नयनावली सो रही थी उस राजगृह में गया तो वह एक कोने में चुरी तरह पड़ी थी। उसे देखते ही मुझे आश्चर्य हुआ कि ओहो! यह नयनावली! अरे इसकी ऐसी दशा! एक वार चन्द्रमा को भी लज्जित करने वाला उसका चेहरा कहाँ और आज मक्खियों से भिन भिनाता दुर्गन्ध-युक्त चेहरा कहाँ? अरे! उसके नेत्र कितने गहरे धँस गये हैं? इसके हाथ-पैर कैसे रस्सी के समान हो गये हैं? और सर्वथा शुष्क हो गये हैं। एक वार इसकी आवाज पर समस्त राजमहल काँप उठता था। आज तो उसके वचन को कोई दासी भी नहीं सुनती। पहले यदि भूल-चूक से उसे कोई देख लेता तो उसका मोहक रूप कई दिनों तक भूलता नहीं, जबकि आज उसे देख कर घोर कामी को भी घृणा होती है। अहाहा! क्या संसार के भाव हैं? एक वार मोहक प्रतीत होने वाले पदार्थ दूसरे ही क्षण ऐसे घृणास्पद हो जाते हैं।

मैं नयनावली के कक्ष से पुनः राजा गुणधर के महल में आया तब वह भैंसे का आहार कर रहा था। उसने रसोइये को कहा, 'मुझे यह भैंसे का माँस अच्छा नहीं लगता, अन्य कोई उत्तम माँस ला।'

रसोइये ने इधर-उधर देखा परन्तु अन्य कोई न मिलने पर उसने मुझे पकड़ लिया।

उसने बल पूर्वक मुझे भूमि पर गिरा कर मेरा वध किया। राजन् मारिदत्त! गुणधर राजा के माँस के लिए रसोइये के द्वारा मेरा वध हुआ, परन्तु मेरी माता जो वकरी बनी थी उसका क्या हुआ वह सुनो।

वह वकरी के भव में से मर कर एक वन में भैंसे के रूप में उत्पन्न हुई। वह भैंसा अत्यन्त हृष्ट-पुष्ट एवं शक्तिशाली बना। वह सरोवर की पाल तोड़ता और सरोवर पर पानी पीने के लिए आने वाले पशुओं को सताता। राजा का प्रमुख अश्व एक बार सरोवर पर पानी पीने के लिए आया। यह भैंसा उसके पीछे पड़ गया और इसने शक्तिशाली अश्व को लकड़े की तरह चीर कर मार डाला। जब यह यात गुणधर राजा को ज्ञात हुई तो उसने चारों ओर शस्त्रधारी सैनिक रखकर उस भैंसे को पकड़वाया और उसे नगर में लाकर अग्नि की ज्वालाओं में जीवित जला कर मार दिया। तत्पश्चात् उसका माँस पकवा कर राजा ने अनेक मनुष्यों को दिया। राजा भी उक्त माँस खाने के लिए बैठा परन्तु उसे वह अच्छा नहीं लगा। अतः उसने रसोइये से अन्य माँस मांगा। रसोइये के पास अन्य प्रयन्ध नहीं होने से उसने मेरा वध किया।

राजन् मारिदत्त! एक वार आटे का मुर्गा बना कर मारने के फलस्वरूप इस प्रकार मेरा और मेरी माता का पाँचवा-छठा भव हुआ।

मुझे प्रत्येक भव में राजमहल, पुत्र एवं पत्नी देखकर जातिस्मरणज्ञान हुआ परन्तु मुझे उन्हें देखकर विरक्ति नहीं हुई। मैं यह सब देखकर उलटा राग एवं क्रोध में अधिक डूबा। पशु के भव में भी यदि यह सब देख कर मुझे सच्चा वैराग्य हुआ होता तो अवश्य ही मेरा कल्याण हो जाता; परन्तु हुआ नहीं, और जिसके कारण मैं समस्त भवों में हिंसा के बल पर भटकता रहा।

(३९)

तुम्हारा धर्म
अर्थात्

काल-दण्ड

सातवाँ भव

(१)

हे राजन् मारिदत्त! कर्म राजा ने हमें इतनी विडम्बनाएँ दीं फिर भी उसे सन्तोष नहीं हुआ। हमने पूर्व भव में एक आटे के मुर्गे का वध किया था इसलिए मोर, कुत्ता आदि के भव धारण करने पर भी मुर्गे का भव पाने का समय आया। इस मुर्गे के भव में मेरे साथ जो थीती उसे आप सुनो।

जिस उज्जयिनी में मैं राजा था वहाँ समीप ही एक चाण्डालों की वस्ती थी। उस वस्ती में झौंपड़ीनुमा अनेक घर थे। उनके आंगनों में पशु-पक्षियों की हड्डियों और खून से परिपूर्ण खड्डे थे। उस वस्ती में रहने वाले मनुष्यों में से अधिकतर मनुष्य लंगोटी लगाये हुए नंगी देह वाले थे और उनके सिर के बाल और नाखून प्राकृतिक रूपसे ही बढ़े हुए थे। वस्ती में चारो ओर धुँए के वादल से चलते थे और सर्वत्र भयानक दुर्गन्ध आती थी।

मेष के भव में से मेरा जीव और भैंसे के भव में से मेरी माता का जीव च्यव कर मुर्गी की कुक्षि में अवतीर्ण हुआ। मुर्गी एक घूरे में अनेक लघु जीवों को खाकर अपना और हमारा पोषण करती थी। मुर्गी गर्भवती थी, उस समय एक नर विल्ली उसके पीछे पड़ी। भय के कारण मुर्गी दौड़ी और उसने घूरे में दो अण्डे दे दिये। मुर्गी को तो उस नर विल्ली ने झपट कर मार दिया, परन्तु हमारे ऊपर तुरन्त एक चाण्डालिनी ने घर का कूडा-कर्कट डाल दिया। उस घूरे में गर्भाशय में जीव रुँधे उस प्रकार हम रुँध गये और समय पूर्ण होने पर अण्डे फूटे, जिनमें से हम दोनों पक्षियों के रूप में प्रकट हुए।

हम दोनों का रंग अत्यन्त श्वेत था। हमारा स्वर भी अत्यन्त तीक्ष्ण फिर भी अत्यन्त मधुर था, जिसके कारण उस वस्ती में रहने वाले अणुहल्ल नामक चाण्डाल-पुत्र को हम अत्यन्त प्रिय लगे। अतः उसने हमें ले लिया और प्रेम पूर्वक हमारा पालन-पोषण करके हमें बड़ा किया।

इस अणुहल्ल का स्वामी कालदण्ड नामक कोतवाल था। उसे पक्षी पालने तथा

उन्हें खिलाने का अत्यन्त शौक था। अतः उसे प्रसन्न करने के लिए चाण्डाल-पुत्र अणुहल्ल हम दोनों को उसके पास ले गया और उसे हमें उपहार स्वरूप दे दिया। इस प्रकार हम दोनों चाण्डाल पुत्र के पास से कालदण्ड कोतवाल के वहाँ पहुँचे।

कोतवाल के पास रहते हुए हम दोनों को एक बार गुणधर राजा ने देखा। पूर्वभ्रम के स्नेह के कारण हमें देखते ही उसको हमारे प्रति प्रेम उत्पन्न हुआ और वह बोला, 'क्या सुन्दर मुर्गा-मुर्गी तू लाया है?' तत्पश्चात् राजा ने कालदण्ड को कहा, 'कालदण्ड! अब हमारी सवारी जहाँ प्रस्थान करे वहाँ इन दोनों पक्षियों को साथ लेकर तू हमारे साथ आयेगा। मुझे ये दोनों पक्षी अत्यन्त प्रिय हैं।'

तत्पश्चात् गुणधर राजा की सवारी जहाँ प्रयाण करती वहाँ हम भी प्रयाण करते और उसके खिलौनों के रूप में हम उसे अपने मधुर-मधुर शब्द सुना कर उसे प्रफुल्लित करके हम अपना समय व्यतीत करने लगे।

(२)

राजन्! जब एक बार वसन्त ऋतु का आगमन हुआ तब पुष्प-वाटिका में समग्र वनराजी मुस्करा कर सबको मानो निमन्त्रण सा दे रही थी। उस समय राजा गुणधर अपने परिवार के साथ वसन्त ऋतु का आनन्द लेने के लिए उद्यान में आया। उनके साथ रानी जयावली एवं उसकी दासियाँ भी थीं। राजा उद्यान के मध्य निर्मित महल के बरामदे में बैठा। उस समय सेवकों ने आकर अनेक प्रकार के पुष्पों, पत्तों, और फलों के उनके समक्ष ढेर लगा दिये। राजा को उन सबकी अपेक्षा रानी जयावली का चेहरा अधिक मोहक प्रतीत हुआ। अतः उसने सेवकों को विदा कर दिया और वह रानी जयावली के साथ प्रमोद में तन्मय हो गया।

उस अवसर पर हमारा रक्षक कालदण्ड कोतवाल हमें पिंजरे में लेकर उद्यान के महल में आया, परन्तु उसने समझा कि राजा रानी के साथ आनन्द में लीन है, अतः वह वहाँ से लौट गया और वसन्त ऋतु का अपूर्व सौन्दर्य निहारता हुआ एक शाल वृक्ष के समीप पहुँचा, जहाँ वृक्ष के नीचे शशिप्रभ नाम के आचार्य स्थिर दृष्टि से कायोत्सर्ग में लीन थे। अन्यत्र भटकने की अपेक्षा कोतवाल की इच्छा उनके पास बैठ कर कुछ धर्म-चर्चा करने की हुई। अतः उसने पिंजरा नीचे रख दिया और मुनि को प्रणाम करके वन्दन किया।

मुनि ने तुरन्त कायोत्सर्ग पूर्ण करके उसे धर्म-आशीर्वाद दिया तब कालदण्ड ने कहा, 'महाराज! हमने ऐसे जैन साधु पहले किसी समय देखे हैं। उनकी प्रतिष्ठा एवं आचार उत्तम होते हैं, ऐसा सुना है, परन्तु उनका धर्म क्या है, यह हमें पता नहीं है। अतः आप अपने धर्म के विषय में हमें बतायें।'

आचार्यश्री ने कहा, 'भाग्यशाली! हमारा और तुम्हारा कोई भिन्न धर्म नहीं है। सबका धर्म एक है। गायों में कोई लाल होती है, कोई पीली होती है, कोई श्वेत होती है तो कोई चित्तकयरी होती है, परन्तु समस्त गायों का दूध श्वेत होता है। किसी भी गाय का दूध लाल अथवा चित्तकयरा नहीं होता। उसी प्रकार से कोई भगवे वस्त्र पहनता है, कोई श्वेत वस्त्र पहनता है, कोई मृग-चर्म रखता है परन्तु उन सब में कल्याणकारी वस्तु रूप सच्चा धर्म तो एक ही है। उत्तम कृत्य करने वाला व्यक्ति धर्मी कहलाता है और वुरे कृत्य करने वाला व्यक्ति पापी गिना जाता है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, त्याग, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह दशा उत्तम कृत्य है। उनका आचरण करने वाला धर्मात्मा और उनका आचरण नहीं करने वाला अधर्मी होता है। इस प्रकार जो सच्चे कृत्यों को सच्चे समझता है वह समकिली और मिथ्या कृत्यों को सच्चे मानता है वह मिथ्यात्वी है। ये मिथ्यात्वी जीव सच्ची समझ के अभाव में मिथ्या मार्ग को भी सत्य मान कर अनर्थ करते रहते हैं; जैसे कि ब्राह्मण विविध हिंसा युक्त यज्ञ करते हैं, भील लोक धर्म की भावना से दावानल लगाते हैं। यह सब मिथ्यात्व नहीं तो और क्या है? इस मिथ्यात्व का साम्राज्य विश्व में अत्यन्त ही व्याप्त हो गया है। सभी व्यक्ति अनर्थकारी कार्य करते हैं और उनमें अपने शास्त्रों की सम्मति बताकर उनका समर्थन भी करते हैं, परन्तु वास्तविक रीति से उस परमार्थ को जानने के लिए अपनी ज्ञान-दृष्टि का उपयोग नहीं करते। यदि इस ज्ञान-दृष्टि का उपयोग हो तो अंधकार में रही हुई वस्तु के लिए चाहे जितने विकल्प किये जा सकते हैं परन्तु उजाले में वे समस्त विकल्प नष्ट हो जाते हैं। उसी प्रकार ज्ञान-दृष्टि से यदि पदार्थ को निहारा जाये तो जीवों की अनर्थकारी प्रवृत्ति स्वतः ही समाप्त हो जायें। राजपुरुष! जो व्यक्ति तात्त्विक दशा से युक्त, मधुर-भाषी, निरस्पृह, पवित्र एवं अपरिग्रही है, उसे मैं उत्तम धार्मिक कहता हूँ। यह मेरा धर्म है और सबका भी यही धर्म है। मेरा और तुम्हारा धर्म ये भेद मन-कल्पित हैं। धर्म तो सबका एक ही है।'

आचार्यश्री के वचन सुन कर कालदण्ड के मन में उनके प्रति अत्यन्त प्रेम उत्पन्न हुआ और उसने कहा, 'भगवन्! आपने सचमुच धर्म की सच्ची मीमांसा की है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह ही सच्चा धर्म है। भगवन्! मैं राज सेवक हूँ और हमारे राजा की कुलदेवी को प्रसन्न करने के लिए जीव-हिंसा करनी पड़ती है, उसके अतिरिक्त अथ मैं भविष्य में अन्य कोई पाप नहीं करूँगा।'

आचार्य भगवन् तनिक मुस्कराये और बोले, 'कालदण्ड! तू हिंसा की छूट रखता है और अथ भी पाप नहीं करने का कहता है, वह तो जैसे कोई पानी में पड़ा हुआ मनुष्य कहे कि मैं स्नान नहीं करता और भोजन करके उठा हुआ व्यक्ति कहता है कि मेरे तो आज उपवास है - ऐसा हँसी का पात्र है। भले आदमी! हिंसा से बड़ा अन्य

कौन सा पाप है? हिंसा में ही समस्त पापों का समावेश होता है। कालदण्ड! तुझे विचार आता होगा कि कुल-परम्परा की हिंसा का मैं त्याग कैसे करूँ? तो मैं तुझे पूछता हूँ कि तू अपने पिता को जो रोग हुए हों, तू उन परम्परा के रोगों को छोड़ना चाहता है अथवा नहीं? परम्परा के इन रोगों को तू छोड़ने को तत्पर है और रोगों से भी भयंकर हिंसा-युक्त कुल-परम्परा को छोड़ने में तू हिचकिचाता है उसमें केवल भ्रम ही कारण है न? ये रोग तो इस जन्म में दुःखदायी हैं, जबकि हिंसा तो भव-भव में दुःखदायी है। उसका परित्याग करने में तू इतना क्यों हिचकिचा रहा है? कालदण्ड! ये देव आदि भाग्य से अधिक कुछ भी प्रदान नहीं कर सकते और जिसका भाग्य प्रबल हो उसका रूठा हुआ देव भी कुछ नहीं कर सकता। अतः अन्य समस्त देवों को छोड़ कर अपनी शुद्ध अन्तरात्मा को देव समझ और उसकी साधना कर। यदि यह अन्तरात्मा सच्चे रूप में सिद्ध कर ली तो पग-पग पर जीव को सम्पत्तियाँ अपने आप प्राप्त हो जायेगी। कतिपय व्यक्ति पुत्र, पत्नी आदि के कल्याणार्थ देव-देवियों के समक्ष बलि चढ़ा कर उनकी आराधना करते हैं, परन्तु यह सब अनुचित है। इस संसार में किसके पुत्र और किसकी स्त्रियाँ अन्त तक स्थायी रही हैं? और उनसे किसका कल्याण हुआ है? उत्तम मनुष्य तो जीवदया के लिए उनका त्याग करने में भी नहीं हिचकिचाते। क्षत्रिय तो अशक्त प्राणियों के रक्षकों को कहा जाता है। अशक्त का वध करने वाले तो वधिक कहलाते हैं, क्षत्री नहीं। हिंसा अत्यन्त भयंकर है। यदि जीवन में वह एक बार भी अल्प प्रमाण में ही प्रविष्ट हो गई तो जीव को अनेक भवों में भटका कर उसका अधःपतन कर डालती है। कहा भी है कि -

आस्तां दूरे स्वयं हिंसा हिंसालेशोऽपि दुःखदः।

न केवलं विषं हन्ति, तद्गन्धोऽपि हि दुःखदः।।

जीव की हिंसा तो दूर रही परन्तु उसका तनिक छीटा भी अत्यन्त दुःखद होता है। विष यदि खाने में आ जाये तो तो वह मार डालता है, परन्तु यदि खाने में न आये तो भी केवल उसकी गन्ध ली हो तो भी वह जीव को आकुल-व्याकुल कर देती है।

कालदण्ड! हिंसा कितनी भयंकर होती है उसे खोजने के लिए तुझे अधिक दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। तेरे हाथ में जो पिंजरा है और उसमें जो मुर्गा और मुर्गी है उन्होंने सामान्य हिंसा की थी जिसके फल स्वरूप उन्हें कैसे कष्ट सहन करने पड़े हैं, वह यदि तू जान ले तो तू हिंसा करने की इच्छा भी कदाचित् ही करेगा।

कालदण्ड ने कहा, 'भगवन्! इस मुर्ग और मुर्गी ने ऐसी क्या हिंसा की थी? और इन पर ऐसे कैसे कष्ट आये जिन्हें सुनकर मेरा हृदय काँप उठे?'

(३)

मुनिवर ने कहा, 'कालदण्ड! यह मुर्गा आज से सातवें भव में तेरा यशोधर राजा था और यह मुर्गी उसकी माता चन्द्रमती थी। उसने एक बार केवल आटे का मुर्गा

वना कर उसकी हिंसा की थी, जिराके प्रताप से वे मोर एवं कुत्ता, नेवला और साँप, मत्स्य एवं व्रहा, बकरी एवं बकरा, और बकरा एवं भैंसा वन कर आज मुर्गे और मुर्गी के रूप में उत्पन्न हुए हैं।

यह सुनकर मुर्गे-मुर्गी की आँखों में आँसू आ गये, वे अचेत हो गये और उन्हें अपने पूर्व भवों का जाति-स्मरण-ज्ञान हुआ। वे दोनों किल-किल की आवाज करते हुए मुनिवर के चरणों में लोटने लगे।

कालदण्ड चौंका और बोला, 'महाराज! यह मुर्गा राजराजेश्वर यशोधर है और यह मुर्गी विश्व-बंध माता चन्द्रमती है। अहा! साधारण हिंसा से इनकी ऐसी दशा हुई। कहाँ वे प्रतापी मालव-नृप यशोधर और कहाँ यह मुर्गे का जन्म? भवितव्यता की क्या प्रबलता है! महाराज! आप मुर्गा नहीं है, मेरे मन से आप मेरे राजा हैं; आप मुझे आज़ा दीजिये।' मुर्गे की ओर उन्मुख होकर वह बोला, 'मैं आपका क्या करूँ?'

मुर्गे और मुर्गी ने चौंच ऊपर-नीचे करके अपने पाँव हिलाये, भिन्न भिन्न शब्द किये, परन्तु कालदण्ड उनमें संकेतों को समझ नहीं सका। अतः वह बोला, 'महाराज! आप क्या कह रहे हैं वह समझ में नहीं आ रहा। मैं पक्षियों की भाषा नहीं जानता क्या करूँ?'

मुनिवर ने कहा, 'कालदण्ड! ये दोनों पक्षी कह रहे हैं कि हमें अनशन करना है। इनका आयुष्य दो घड़ी का है। तू इन्हें धर्म का पाथेय देने के लिए सचेत रह!'

हम दोनों मुनि की वाणी स्वीकार कर रहे हों उस प्रकार हमने पुनः शब्द किये। वे शब्द राजा गुणधर ने सुने।

मुनिवर ने कहा, 'कालदण्ड! सचेत हो जा। इन पक्षियों का अन्तिम समय निकट



मुनिवर बोले - कालदण्ड! सचेत हो जा। इन पक्षियों का अन्तिम समय निकट आ रहा है उसे कोई राह नहीं मकेगा। इन्हें धर्म प्राप्त कराने में तू तनिक भी प्रमाद मत कर!

आ रहा है। उसे कोई रोक नहीं सकेगा। इन पक्षियों को धर्म प्राप्त करने में तु तनिक भी प्रमाद मत करना।' कालदण्ड सचेत हो गया। उसने हमारे आसपास चक्कर लगाने प्रारम्भ किये।

उस समय हे मारिदत्त नृप! गुणधर राजा को अपना शब्द-वेधी गुण बताने की उत्कण्ठा हुई। वह अपनी रानी जयावली को कहने लगा, 'देवी! मेरी शब्द-वेधी विद्या का प्रभाव देखना है? मैं यह तीर छोड़ता हूँ जो अभी पक्षी बोला है उसे मार कर ही रुकेगा।' उसने तुरन्त तीर चढ़ाया और जिस ओर से शब्द सुनाई दिये थे उस दिशा में उसने तीर छोड़ा। सननन की आवाज करता हुआ तीर आया और कालदण्ड और मुनि के देखते देखते हमें आरपार वींध कर हमारा संहार करके आगे निकल गया।

इस शब्द वेधी गुण से गुणधर को अत्यन्त हर्ष हुआ परन्तु हमें जातिस्मरणज्ञान हुआ होनेसे और अभी अभी मुनिवर से धर्मोपदेश सुना होने से हम कलुषित-हृदयी नहीं बने। हमारे मन में यह विचार आया कि, 'हे जीव! पाप तुने किया है तो उसका फल भोगने के लिए तू सचेत हो जा। इस एक पाप में से तुने अनेक पाप करके भव-परम्परा में वृद्धि की है। आज पाप की परम्परा दूर करने के लिए तू समभाव रख। राजन् मारिदत्त! समभाव लाते हुए मुनि एवं कालदण्ड से संकल्प प्राप्त कर शुभ अध्यवसाय में हमारी मृत्यु हो गई। यह हमारे कल्याण का मंगल मुहूर्त था और पाप की दिशा का परिवर्तन हुआ।

राजन्! इस प्रकार दुःस्वप्न में बताये अनुसार मैं ऊपरी मंजिल से नीचे गिरा। इस प्रकार हमारे विवेकरहित तिर्यच गति के छः भव व्यतीत हुए। समस्त भवों में हम एक के पश्चात् एक हिंसा करते गये और पाप एवं दुःख में वृद्धि करते गये। पाप एवं पुण्य में यही महत्त्व है कि एक पाप अनेक पापों को खींचता है और इस प्रकार जीवन को अन्धकार में ले जाता है, जबकि उत्तम पुण्य पुण्य करा कर जीवन को आगे से आगे खींच ले जाता है। इस प्रकार हमारी पाप-प्रकृति हमें एक के पश्चात् एक पाप-परम्परा में खींच ले गई।

(४०)

हिंसा का रुख

अर्थात्

आत्मकथा की पूर्णाहुति

(आठवाँ, नवाँ और दसवाँ भव)

(१)

राजन् मारिदत्त! आप हमारा आठवाँ भव सावधान होकर सुनें। इस भव में हमारे हिंसा के रुख में परिवर्तन आया और हम कल्याण की ओर उन्मुख हुए क्योंकि मुर्गे-मुर्गी के सातवें भव में मरते-मरते हमने अनशन किया था जिससे मरते समय हमारे हृदय में से द्वेष का भाव निकल गया और समता का भाव आया था।

कठोर हृदयी कालदण्ड हमारी मृत्यु देखकर करुणा-सिक्त बना। उसके नेत्रों में आँसू आये और वह विचार करने लगा। इन पक्षियों को जातिस्मरणज्ञान हुआ, उन्होंने अनशन किया और घड़ी भर में उनकी मृत्यु भी हो गई। यह सब इतनी त्वरित गति से हुआ कि मानो यह सब स्वप्न हो। सुरेन्द्रदत्त-यशोधर राजा ने आटे के मुर्गे का वध किया, जिसके लिए उसे एक के पश्चात् एक पशु-पक्षियों के इतने अधिक जन्म लेने पड़े, जबकि मैं तो पग-पग पर अनेक जीवों का संहार करता हूँ। मेरा क्या होगा? राज्य-सिंहासन को छोड़कर संयम ग्रहण करने के लिए तत्पर राजा अल्प हिंसा से कहाँ जाकर गिरा? कैसा कर्म का प्रभाव है? कालदण्ड की दृष्टि मुर्गे-मुर्गी की मृत-देहों पर पड़ी। उनके पंख छिन्न-भिन्न हो गये थे। आसपास में रक्त से खड्डा भरा गया था। उनकी आंतिडियाँ बाहर निकल गई थी और उनका मोहक रूप मिट कर भयानक रूप हो गया था। कालदण्ड ने कहा, 'जैसे मुर्गा-मुर्गी हैं वैसे ही हम हैं। इस देह की चमड़ी के भीतर रक्त है, ऐसा ही हमारी देह में भी भरा हुआ है और आत्मा उड़ जाने के पश्चात् इस देह को कितने ही प्रिय पुत्र अथवा पत्नी हों तो भी घड़ी भर के लिए कोई नहीं रखेगा। यह सब जानते हुए भी इस देह का पोषण करने के लिए और उसकी इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए जीव प्रतिदिन कितने भयंकर पाप करते हैं? केवल कल की यात है। यशोधर के समान राजा और माता चन्द्रमती के समान राजमाता सात पीढ़ियों में भी मालवा की गद्दी पर नहीं हुए। वे कैसे प्रजा-वत्सल थे? उन्होंने जन्म लेकर किसी का अहित तो किया ही नहीं था, फिर भी आह! उनकी कैसी दशा हुई? मैं अभगा हूँ कि ये राजा और राजमाता हैं यह जानने पर भी मैं उनकी उचित

परिचर्या करूँ उससे पूर्व तो उनकी मृत्यु हो गई।

कालदण्ड ने पुनः मुनि को प्रणाम किया और तत्पश्चात् वह बोला, 'भगवन्! आप मेरे परम उपकारी हैं। मनुष्य दर्पण में चेहरा देखने के पश्चात् अपने चेहरे के दाग स्वच्छ न करे, ऐसा तो कोई ही मूर्ख होगा। उसी प्रकार मैंने हिंसा का परिणाम और संसार की विचित्रता आपके प्रताप से जान ली है, फिर मैं संसार का भरोसा क्यों करूँ? भगवन्! क्या मुझ पापी का उद्धार होगा? क्योंकि मैं घोर पापी हूँ। मैंने जन्म लेकर अनेक हिंसाएँ करने में पीछे मुड़ कर नहीं देखा, फिर भी मुझे आपके दर्शन हुए और समागम हुआ जिससे मैं मानता हूँ कि मेरा कुछ सुकृत भी जागृत है?

मुनिवर ने कहा, 'कालदण्ड! पनिहारिन कुँए में घड़ा और सत्रह हाथ लम्बी रस्सी डालती है परन्तु उसके हाथ में यदि चार अंगुल रस्सी शेष रहे तो वह उसके सहारे से घड़ा और रस्सी सब बाहर निकाल लेती है; उसी प्रकार मानव रूपी रस्सी का किनारा आपके हाथ में है तब तक आप अपनी आत्मा का जैसा सोचेंगे वैसा उद्धार कर सकेंगे। मैं तो उद्धार का मार्ग अहिंसा सम्पूर्ण सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह बताता हूँ। कालदण्ड! यदि तुम उससे परिचित नहीं हो तो अभी उन अहिंसा व्रतों को देश से स्वीकार करने के रूप में श्रावक-धर्म को तो अवश्य स्वीकार कर ही लो।

कालदण्ड को धर्म के प्रति श्रद्धा हुई, उसने हिंसा को तिलांजलि दी और अन्य अनेक छोटे-बड़े व्रत ग्रहण करके वह शुद्ध श्रावक बना।

(2)

इस ओर राजा गुणधर मुर्गे-मुर्गी के वृत्तान्त से अपरिचित था। इसलिए वह अपने शब्दवेधी गुण के प्रगट प्रमाण से गर्वोन्नत हुआ। उसने रानी जयावली को कहा, देखी मेरे शब्दवेधि गुण की दक्षता? तत्पश्चात् वह रानी के साथ विषय-भोग में प्रवृत्त हुआ। मारिदत्त! देखो कर्म की विचित्रता! वह मुर्गा और मुर्गी बने मैं एवं मेरी माता दोनों अपने ही पुत्र-वधु जयावली की कुक्षि में पुत्र-पुत्री के रूप में उत्पन्न हुए। इस भव में राजा गुणधर जो पूर्व में मेरा पुत्र होता था, वह यहाँ पिता बना और पुत्रवधु जयावली मेरी माता बनी।

जैसे ही जीव गर्भ में आता है वैसे ही गर्भधारण करने वाली माता को दोहले होते हैं तदनुसार मरते समय हमारे समता के परिणाम होने से जयावली में भी तुरन्त समता आ गई। उसने राजा को अनुनय-विनय करके गर्भ धारण काल में शिकार पर जाना छुड़वाया, कारागार से बन्दियों को छुड़वाया, पिंजरे में बन्द पक्षियों को अपनी इच्छानुसार घूमने के लिए मुक्त कराये, मछुओं के जाल बन्द कराये और शिकारियों के शिकार भी उसने रुकवाये। राज्य भर में 'मारना' ऐसा शब्द बोलना भी बन्द कराया।

रानी को इस उत्तम गर्भ के प्रभाव से तनिक भी पीड़ा नहीं हुई और उसने शुभ मुहूर्त में हम दोनों को पुत्र-पुत्री के रूप में जन्म दिया।

पुत्र-जन्म की वधाई मिलते ही राजा ने मुक्त हाथों से दान दिया, जिसके फल स्वरूप जीवन भर के निर्धन महान् धनी हो गये और धन के कारण उनकी सूरत बदल जाने से उनके निकट सम्यन्धी भी उन्हें पहचान नहीं सके। सम्पूर्ण नगर में सर्वत्र हर्ष व्याप्त हो गया। इस पुत्र-पुत्री के गर्भ में आने से रानी की सर्वत्र 'अभयदान' देने की भावना जाग्रत हुई थी। अतः राजा ने मैं जो पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ था उसका नाम 'अभयरुचि' रखा और पूर्व भव की जो मेरी माता यहाँ पुत्री के रूप में उत्पन्न हुई थी उसका नाम 'अभयमती' रखा।

राजन् मारिदत्त! पुत्रको 'पिता पिता' और वधू को 'माता माता' कह कर एक हाथ से दूसरे हाथ में खिलाते हुए हम बड़े हुए। फिर कलाचार्य से कला सीखी और हम युवा हुए।

मेरा रूप देखकर नगर-जन कहते कि मानो यह सुरेन्द्रदत्त यशोधर राजा प्रतीत होता है और अभयमती को देखकर वे कहते कि राजमाता चन्द्रमती की मृत्यु हुए अनेक वर्ष हुए हैं परन्तु मानो साक्षात् वही हो ऐसी यह राजकुमारी प्रतीत होती है।

राजा गुणधर को मेरे प्रति अगाध राग था, अतः वह तो मुझे लघु वय में ही राज्य प्रदान करने के लिए तरसता था, परन्तु जयावली ने 'पुत्र पर अभी से क्या उत्तरदायित्व



यशोधर अपने ही पुत्र के पुत्र स्वरूप जन्मा! यशोधरा पौत्र की पुत्री के रूप में जन्मी!
पिता पुत्र बना. दादी पुत्री बनी. कैसी संसार की विचित्रता है?

डाला जाये?' कह कर उसे रोका। हमने यहाँ सुख में किस प्रकार दिन व्यतीत किये उसका तनिक भी पता नहीं लगा। इस प्रकार अनेक कष्टों के पश्चात् हमारी सुख की घड़ी आई।

(३)

राजन् मारिदत्त! अद्य जीवन परावर्तन का हमारा स्वर्ण काल आता है और हमारा अद्भुत परिवर्तन होता है।

एक बार ग्रीष्म ऋतु का समय था। मालवा के नरेश गुणधर शिकार के शौकिन थे और वैसे ही वे हिंसा-प्रिय भी थे। बीच में हमारे गर्भावस्था के समय में जयावली के आग्रह से उन्होंने शिकार करना छोड़ दिया था, परन्तु तत्पश्चात् उनकी जन्म की आदत फिर प्रारम्भ हो गई। उन्होंने विचार किया कि कुछ समय के लिए राज्य-कार्य मंत्रियों को सौंप दू और एक बार बड़े प्रमाण में ऐसा शिकार करूँ कि समस्त देवी-देवताओं को उनका माँस पर्याप्त मात्रा में चढ़ा सकूँ। उन्होंने अपने साथ शिकारियों को लिया और साथ ही साथ उनके चंचल एवं चतुर कुत्तों को भी लिया और दूर से पशुओं के गलों में फन्दे डालकर उन्हें फँसाने वाले अनेक वागुरिकों को भी साथ लिया।

इस प्रकार अपना हिंसक परिवार साथ लेकर राजा गुणधर क्षिप्रा नदी के तट पर आया। इन भैरव यमराज तुल्य शिकारियों को देखकर पक्षी चहचहा उठे। मन्द मन्द वहने वाली वायु भी यह मान कर कि कहीं इन पापियों का मुझे स्पर्श न हो जाये, कुछ समय के लिए रुक गई।

गुणधर एवं उसके हिंसक सेवक कुछ दूर चले, इतने में उन्हें एक वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग ध्यानस्थ एक मुनि दिखाई दिये। मुनि की दृष्टि नीचे थी। उनकी देह तप से दुर्बल थी, फिर भी चारों ओर उनके तप का ही प्रसार था। वर्षाऋतु के आगमन से जैसे जवास सिमट जाता है उसी प्रकार राजा गुणधर इन मुनि को देखकर तनिक उद्विग्न हुआ। उसने माना कि मेरी उत्कण्ठा तो अनेक जीवों का वध करके समस्त देवी-देवाताओं का तर्पण करने की थी। उसमें सर्व प्रथम इस नंगे सिर वाले साधु के दर्शन से अपशकुन हो गया। मार्ग में अन्य कोई नहीं और सर्व प्रथम यह शिकार एवं हिंसा का विरोधी साधु क्यों मिला? अन्य पशु-पक्षियों का वध करने से पूर्व उसकी इच्छा इसका वध कर डालने की हुई, परन्तु दूसरे ही क्षण विचार आया कि इस निःशस्त्र साधु का वध करके मैं क्यों अपने हाथ कलंकित करूँ? उसने अपने साथ आये शिकारियों को कहा, 'तुम इन कुत्तों को साधु पर छोड़ो और उसको चीर-फाड़ कर अपना प्रथम अपशकुन दूर करो।'।

शिकारियों ने राजाज्ञानुसार अपने समस्त कुत्ते मुनि की ओर छोड़ दिये। राजा

गुणधर मुस्कराता हुआ कुतुहल देखता रहा। कुत्ते तुरन्त दौड़े परन्तु उनमें से एक भी मुनि के पास नहीं जा सका। सबके आश्चर्य के मध्य वे सब कुत्ते मुनि से ढाई हाथ दूर रह कर एक एक करके वे उनकी परिक्रमा करने लगे और मानो पालतू कुत्ता अपने स्वामी को रिझाने के लिए इधर-उधर पाँव हिलाता है, सिर ऊपर-नीचे करता है, उसी प्रकार वे सब प्रसन्नता व्यक्त करते हुए हाथ-पाँव ऊँचे करके मुनि को प्रणाम करके समझदार मनुष्य की तरह एक के पश्चात् एक वे उनके समक्ष बैठ गये।

मारिदत्त! यह दृश्य देख कर गुणधर की आँख जो लाल हो गई थी उसकी लाली में तुरन्त परिवर्तन हो गया। वह सोचने लगा, 'ये कुत्ते ऐसे भयंकर हैं कि दूरी पर उड़ने वाले वेगवान पक्षी को भी गिरा देने वाले तथा निशान साधने वाले हैं। इन समस्त कुत्तों को क्या हो गया कि सपेरे की वीन पर साँप नाचता हैं उसी प्रकार सब एक साथ हाथ-पाँव हिला कर विनीत शिष्यों की तरह बैठ गये? अवश्य ही यह साधु कोई लब्धि युक्त होना चाहिये। इसमें कोई दिव्य प्रभाव होना चाहिये कि जो अपनी छाया में आये उसे उपदेश दिये बिना ही उसका परिवर्तन करा सके। कहना चाहिये कि ये शिकारी कुत्ते भाग्यशाली हैं कि जो मुनि की छाया से पवित्र होकर विनीत हो गये। मैं प्रतापी सुरेन्द्रदत्त राजा का पुत्र गिना जाता हूँ। पिताश्री की उत्तम सौरभ को मैंने अपने पापी जीवन से दुर्गन्धयुक्त बना दी है। जो पिता महान् गुणवान एवं दयालु थे, उनका पुत्र मैं इन कल्याणकारी विश्वबंध त्यागी मुनिवर का वध करने के लिए तत्पर हो गया। मैं गचमच कुत्तों में भी निम्न स्तर का हूँ, अधम हूँ। कुत्तों को प्रेरित करने



महा शिकारी कुत्तें मुनि के पास पहुँचते ही पालतू कुत्ता की तरह प्रसन्नता व्यक्त करने हुए मुनि का प्रणाम कर एक के बाद एक करके वे बैठ गए!

पर भी उन्होंने मुनि पर उपसर्ग नहीं किया। जब मैंने मुनि का वध नहीं किया परन्तु मन से तो उनकी बुरी तरह हत्या करने की इच्छा की, अतः वास्तव में तो मैं मुनि-हत्यारा ही हूँ। ये मुनि पूर्ण रूपेण समता के सागर हैं। उनकी शत्रु-मित्र पर समदृष्टि है। अतः उन्होंने मुझ पर दया रखी, परन्तु जिस प्रकार मैंने उनका अनिष्ट सोचा उसी प्रकार यदि उन्होंने मेरे अपराध का दण्ड देने की ही बुद्धि रखी होती तो क्या मैं खड़ा का खड़ा भस्म न हो जाता? परन्तु उन दयालु ने मुझे क्षमा प्रदान की। अच्छा, मैं मुनि के पास जाता हूँ, और उनसे क्षमा याचना करता हूँ। उनके पास जाकर मैं उन्हें कहूँ कि, 'भगवन्! मुझ धामर का अपराध क्षमा करें। प्रजा-पालक कहे जाने वाले आप निर्दोष का संहार करने के लिए शिकारी कुत्ते भेज कर मैंने अपनी पापी जाति को प्रकट किया है।' परन्तु दूसरे ही क्षण उसको विचार आया कि मैं क्या मुँह लेकर मुनि के पास जाऊँ? मैं वहाँ जाकर क्या करूँ? और क्या कहूँ?

(४)

इसी अर्से में अर्हदत्त श्रावक मुनि को वन्दन करने के लिए आया। उसने राजा पर दृष्टि डाली। राजा को पश्चाताप करता देख कर वह समस्त वात समझ गया और इसलिए गुणधर राजा उसे कुछ कहे उससे पूर्व उसने राजा को कहा, 'राजन्! आप घबरायें नहीं। ये मुनि समता के सागर हैं। ये कलिंग नृप अमरदत्त के सुदत्त नामक पुत्र हैं। वे कलिंग के राज्य-सिंहासन पर बैठे थे परन्तु इन्हें राज्य की दण्ड-नीति पसन्द नहीं आने से इन्होंने विरक्त होकर युवावस्था में सर्वस्व का परित्याग करके दीक्षा ग्रहण की है। दीक्षित होने के पश्चात् इन्होंने कठोर तप करके देह को सुखा दिया। जिस प्रकार स्वर्ण को अग्नि में डालने से वह शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार उन्होंने अपनी देह को तप करके निर्मल बना दी है। इन्होंने क्षुधा, पिपासा आदि साधु-जीवन में सुलभ गिने जाने वाले वाईस परिषह सहन करके आत्मध्यान प्रारम्भ किया। फल स्वरूप संयम के प्रताप से इन्हें अनेक लब्धियों की प्राप्ति हुई है। ये मुनि कदापि स्नान अथवा दन्त-मंजन नहीं करते हैं फिर भी इनकी देह चन्दन की अपेक्षा भी अधिक सुगन्धित है और इनके शील एवं चारित्र्य की सुगन्ध तो इतनी उत्तम है कि क्रूरतम पशु भी इनके दर्शन मात्र से वैर रहित होकर सरल बन जाते हैं। जहाँ जहाँ ये महात्मा विचरते हैं उस भूमि में रोग, उपद्रव अथवा महामारी आदि कुछ नहीं रहता। इन की चरण-रज को सिर पर चढ़ाने वाले लोग जन्म के भयंकर रोगों से भी मुक्त हो जाते हैं। ये महात्मा इस प्रकार के राजर्षि हैं। विश्व में जिन्होंने पूर्ण सुकृत किया हो उन्हें ही इनके दर्शन का लाभ प्राप्त होता है। उनका दर्शन महान्तम मन की सिद्धि को पूर्ण करने वाला महान् शुभ शुकुन का परिचायक है।'

अर्हदत्त मुनि की प्रशंसा करते-करते रुका कि गुणधर के नेत्रों में आँसु आ गये।

उसका गला रूंध गया और रूंधे गले से वह बोला, 'महाभाग! ऐसे महापुरुष का संहार करने के लिए मैंने कुत्ते पीछे लगा कर उन्हें मारने की अभिलाषा की। ये हिंसक कुत्ते समझे कि ऐसे शान्त मुनि का संहार नहीं किया जा सकता अतः वे इनकी परिक्रमा करके इनके समीप बैठ गये। मैं कुत्तों से भी गया-वीता यह नहीं समझ पाया। मेरा क्या होगा? इस पाप से मैं कौनसे भव में मुक्त होऊँगा?'

अर्हदत्त ने कहा, 'राजन्! जीवन में जब पाप-बुद्धि जाग्रत होती है तब मनुष्य को सार-असार का विवेक नहीं रहता और जब पाप-बुद्धि का शमन हो जाता है वही उसकी कल्याण दिशा है। आप लज्जा का अनुभव न करें। मुनि को तो आपके अकेले के नहीं परन्तु आज तक अनेक व्यक्तियों के ऐसे उपसर्ग हुए हैं और उन सबको सहन करके इन्होंने संयम जीवन की कसौटी की है। आप इनकी ओर से क्रोध की तनिक भी शंका न करें। नदी का शीतल जल शीतलता प्रदान करता है, ताप शमन करता है। उनके पास जाने से आप शीतल होंगे। आप मेरे साथ चलें, लज्जा का अनुभव न करें। उनके दर्शन प्राप्त करना महा भाग्य का कारण है और आपने उनके दर्शन प्राप्त किये हैं अतः आप महान् भाग्यशाली हैं।'

राजा गुणधर अर्हदत्त को साथ लेकर उसकी अति उत्कण्ठा से मुनि के पास आया। आते ही वह उनको भाव पूर्वक बन्दन करके बोला, 'भगवन्! आप मेरा अपराध क्षमा करें, मेरी रक्षा करें, मेरा उद्धार करें। भगवन्! मैं महा पापी हूँ। हे विश्वबंध! हे विश्व के जीवों का कल्याण करने वाले! हे शत्रु-मित्र पर सम-दृष्टि रखने वाले! हे प्राणी मात्र को दर्शन से पुनीत करने वाले! मैंने आपका वध करने की केवल भावना ही नहीं रखी



भगवन्! मेरा अपराध क्षमा करें, मेरी रक्षा करें, मेरा उद्धार करें. राजन्! तीव्र पश्चात्ताप पाप का नाश करता है. आप में सदर्म-रूचि उत्पन्न हुई है अतः आपका कल्याण है.

परन्तु आपका बध करने के लिए इन कुत्तों को भी छोड़ा। अतः मैं ऋषि-घातक हूँ। भगवन्! मैं क्या प्रायश्चित करूँ तो मेरे इस पाप का निस्तार हो?’

मुनि ने शान्त वाणी में कहा, ‘राजन्! तीव्र पश्चात्ताप पाप का नाश करता है। आपके हृदय में ऐसा तीव्र पश्चात्ताप हुआ है और साथ ही साथ आप में सद्धर्म के प्रति रुचि भी प्रकट हुई है जिससे तुम्हारा कल्याण है। आप मेरी ओर से अपना अहित होने की आशा न रखें। कोई भी व्यक्ति किसी का अहित नहीं कर सकता। जो जिसका निमित्त होता है वह होता है। मुझे तुम्हारे प्रति तनिक भी रोष नहीं है। मैं तो तुम्हें उत्तम पुरुष मानता हूँ क्योंकि पाप-प्रवृत्त मनुष्य भी तनिक निमित्त मिलने पर बदल जाता है और धर्म के प्रति रुचि युक्त वने वह कोई अल्प कल्याणकारी नहीं है। तुम भविष्य में भी उत्तम पुरुष बनने वाले हो। राजन्! अब शोक मत करो। पाप की तुमने पूर्ण निन्दा की है, परन्तु अब सुकृत करके तुम आत्म-कल्याण करो।’

राजा गुणधर ने कहा, ‘भगवन्! आपकी मुझ पर महती कृपा है, मैं महा पापी हूँ फिर भी आपने मेरा अनादर नहीं किया। मैंने आपको दुःख दिया फिर भी आपने मेरा तिरस्कार नहीं किया। मैंने कल्याण-अकल्याण के सच्चे स्वरूप को समझे बिना आप जैसे पवित्र पुरुष को अपशकुन माना। मैं इतना मूर्ख हूँ फिर भी आपने मेरी निन्दा नहीं की। क्या यह आपका कम उपकार है? मुझे तो प्रतीत होता है कि आप जैसे की ऐसी हमान् कृपा मुझ पर है उसका कारण मेरा सुकृत नहीं है, परन्तु मेरे पूज्य पिताश्री सुरेन्द्रदत्त की उत्तम जीवन-सौरभ ही मेरी सहायक बनी प्रतीत होती है; अन्यथा मुझ जैसे भयंकर पापी को ऐसा उत्तम संयोग कहाँ से प्राप्त होता? भगवन्! मेरे पिताश्री अत्यन्त उत्तम थे। उनकी दीक्षा ग्रहण करने की भावना थी, परन्तु किसी घोर अन्तराय के कारण उनकी भावना पूर्ण नहीं हुई। ऐसे पिता का मैं पुत्र हूँ फिर भी मुझ में लेश मात्र भी विनय अथवा धर्म का अंश मात्र नहीं है।’

मुनिवर ने कहा, ‘राजन्! पिता के वे सब धार्मिक गुण तुम्हें भलें ही नहीं मिले परन्तु आज जो तेरे हृदय में पाप का पश्चात्ताप है वह उनके गुणों के आकर्षण के कारण ही है न? राजा तनिक आश्रय वन और अपना भारीपन दूर कर तथा यदि तुझे कुछ पूछना हो तो सहर्ष पूछ।’

राजा गुणधर ने कहा, ‘जब धर्म जिज्ञासा जाग्रत होती है तब ही संशय होता है न? आज पर्यन्त तो धर्म की जिज्ञासा ही नहीं थी जिससे संशय कैसे होता? भगवन्! मेरे पिता एवं पितामही अत्यन्त धर्मनिष्ठ एवं उत्तम थे। उनके जीवन की उज्ज्वलता आज भी सम्पूर्ण मालवा में घर-घर गाई जाती है। भगवन्! उनकी मृत्यु के पश्चात् अब वे कहाँ हैं? मुझे अपने सम्बन्ध में तो पूछने योग्य कुछ है ही नहीं, क्योंकि मैंने तो जन्म लेकर कोई सुकृत किया ही नहीं।’

मुनि बोले, 'राजन्! मानव को उसकी विचारधारा कभी अनुत्तर विमान में ले जाती है और कभी पछाड़ कर नरक में ढकेल देती है। तेरे पिता को अविहङ्ग संयम के प्रति राग था। वे राज्य एवं सत्ता दोनों को बन्धन स्वरूप मानते थे, परन्तु किस्ती अशुभ पल में उन्हें एक दुःस्वप्न आया। उस स्वप्न को निष्फल करने के लिए उन्होंने आटे के मुर्गे का वध किया और उस पाप से उनके जीवन की सम्पूर्ण वाजी परिवर्तित हो गई। तेरी माता जयावली ने दीक्षा के पूर्व दिन ही उन्हें भोजन में विष दे दिया, जिससे उनकी मृत्यु हो गई। मृत्यु के समय उत्तम अध्यवसाय न होने के कारण शत्रुता से वे और तेरी दादी मर कर पशु-पक्षियों में परिभ्रमण करते रहे। प्रथम भव मोर एवं कुत्ते का किया। वे दोनों तेरे दरवार में आये और तेरे समक्ष अशरण के रूप में मृत्यु के मुख में समा गये। तत्पश्चात् दूसरे भव में वे दोनों नेवला और साँप बने। यहाँ भी परस्पर लड़कर उनकी मृत्यु हुई। तीसरे भव में तेरा पिता रोहित मत्स्य बना और तेरी दादी गृहा बनी। गृहा को तेरी दासी की रक्षार्थ तेरे सेवकों ने मार दिया और रोहित मत्स्य को तो तुने स्वयं मरवा कर अत्यन्त आनन्द से उसका भोजन किया। राजन्! जगत् के अज्ञान का इससे दूसरा दृष्टान्त क्या होगा? चौथे भव में तेरी दादी बकरी हुई और तेरा पिता बकरा हुआ। यह बकरा अपनी माता के प्रति ही आसक्त हुआ और वहाँ मर कर अपने ही वीर्य में अपनी माता बकरी की कुक्षि में आया। उसके जन्म के पश्चात् बकरी भी दुर्दशा से मर कर भैंसा बनी। उस भैंसे का तुने ही वध किया और परिवार के साथ तुने उसका आनन्द पूर्वक भोजन किया। भोजन करते-करते तुझे भैंसे का माँस पसन्द नहीं आया, अतः तेरा पिता जो बकरा था, उसका वध करा कर तुने उसका माँस खाया। राजन्! कर्म की विचित्रता तो देखो। जिस पिता और दादी के गुणों का तू आज भी स्मरण करता है उसी पिता और दादी का तू हत्यारा है, उसका तुझे थोड़ा ही ध्यान है? गुणधर! यह भैंसा और बकरा मर कर छठे भव में मुर्गा और मुर्गी हुए। जयावली के साथ काम-क्रीडा करते समय तुझे शब्दवेधिता बताने की भावना जाग्रत हुई और तुने उस शब्दवेधि बाण से उन दोनों का तत्काल संहार किया, परन्तु इस समय उनकी मृत्यु से पूर्व उनमें धर्म का संस्कार उत्पन्न हुआ था, जिसके फल स्वरूप उनकी द्वेषधारा में परिवर्तन आया और मरते-मरते उन्होंने सुकृत का संचय किया, जिसके कारण वे दोनों मर कर तेरी ही रानी जयावली की कुक्षि में पुत्र-पुत्री के रूप में उत्पन्न हुए। राजन्! तेरा अभयरुचि ही तेरा पिता सुरेन्द्रदत्त है और तेरी पुत्री ही तेरी दादी चन्द्रमती है। राजन्! तुम सब एक ही भव में हो। उस बीच आटे के मुर्गे की हिंसा मात्र से तेरे पिता और दादी बीच में अन्य छः भव करके तेरे यहाँ पुनः उत्पन्न हुए हैं। फिर भी ये भाग्यशाली हैं कि उनका द्वेष का किनारा अधिक दीर्घकाल तक नहीं चला, अन्यथा अनेक जीव तुच्छ राग-द्वेष एवं हिंसा की

परम्परा से अनेक भवों तक संसार में परिभ्रमण करते हैं और अत्यन्त कठिनाई से भी उनका उद्धार नहीं होता।’

मुनिराज अपनी वैराग्य-वाहिनी वाणी प्रवाहित कर रहे थे कि राजा की देह काँपने लगी, देह में पसीना-पसीना हो गया और जिस प्रकार कोई वृक्ष तने में से उखड़ कर भूमि पर गिर पड़ता है उसी प्रकार वे धराशायी हो गये।

श्रावक अर्हदत्त, कालदण्ड एवं अन्य सब भयभीत हो गये। क्या करना यह किसी को नहीं सूझा और समस्त परिवार -

उदकमुदकं वायुर्वायुर्वतासनमासनं भजत भजतछत्रं हाहाऽऽतपः आतपं।

इति सरभसं भीतभ्राम्यज्जनानसम्भवस्तदनु तुमुलो लोलः कोलाहलः सुमहानभूत् ।।

‘पानी लाओ, पानी लाओ; अरे! राजा को पंखा झूलाओ, हवा डालो, अरे! क्यों कोई ध्यान नहीं दे रहा? राजा भूमि पर सोये हुए हैं उनके लिए आसन बिछाओ। अरे! राजा की देह सर्वथा ठण्डी पड़ गई है, उसे तपाओ’ इस प्रकार जोर से बोलने से अनेक प्रकार का कोलहल हुआ।

समदृष्टा मुनि यह सब देख कर स्थिर हो गये। शीतल उपचार करने के पश्चात् गुणधर उठ बैठा परन्तु उसने किसी की ओर दृष्टि नहीं डाली। पास ही अनेक लोक एवं सेवक थे परन्तु वह किसी की ओर देख नहीं सका। वह लज्जित हुआ। माता-पिता का हत्यारा, पग-पग पर मांस, मदिरा का सेवन करने वाला मैं इन सबको क्या मुँह दिखाऊँ? उसे ऐसा विचार होने लगा कि यदि भूमि मार्ग दे तो मैं उसमें समा जाऊँ? संसार में समस्त पापों के प्रायश्चित्त होते हैं परन्तु मेरा पाप तो प्रायश्चित्त की सीमा को भी लांघ चुका है। एक बार नहीं परन्तु पग-पग पर अपने उपकारी माता-पिता का मैंने वध किया है। क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? बस, अन्य कुछ नहीं, मैं जल मरूँ और अपने अपवित्र जीवन से संसार को अपवित्र करने से रोकूँ।’

मुनि की ओर नीची दृष्टि करके वह कहने लगा, ‘भगवन्! मैं मुँह दिखाने योग्य नहीं हूँ। मैं चाण्डाल से भी भयंकर हूँ। मैं अग्नि-स्नान करके अपना अस्तित्व समाप्त करना चाहता हूँ।’

मुनिवर ने कहा, ‘राजन्! आत्म हत्या कोई पाप का प्रतिकार नहीं है। यह तो कायरता है। मनुष्यने जिस विपरीत मार्ग पर जाकर पाप किया हो, उसे उस मार्ग से पुनः लौट कर पुण्य करना चाहिये। आत्म हत्या तो भव-भव में भटकाने वाला दुर्गति का मार्ग है।

शोकलोभभयक्रोधैरन्यैर्वा कारणान्तरैः।

कुर्वतः स्ववधं जन्तोः परलोको न शुध्यति ।।

शोक, लोभ, क्रोध अथवा चाहे जिन अन्य कारणों से आत्महत्या करने वाले मनुष्य

का परभव नहीं सुधरता। शास्त्रों में परहत्या के समान ही आत्महत्या को हिंसा के रूप में माना है।

‘भगवन्! यदि संसार में मेरा उद्धार सम्भव हो तो मुझे दीक्षित करो, परन्तु क्या प्रव्रज्या से मेरी शुद्धि हो सकेगी?’ राजा ने अनुनय विनय करते हुए कहा।

मुनिवर बोले, ‘राजन्! धूप चाहे जितने कीचड़ को सुखा देता है, उसी प्रकार तप एवं संयम चाहे जैसे कठोर कुकर्म को भी जला डालता है। घोर पाप का नाश करने के लिए कठोर तप एवं कठोर संयम ही समर्थ हैं।’

(५)

मारिदत्त! वस उसी क्षण गुणधर राजा ने हमें बुलाने के लिए अपने सेवक नगर में भेजे।

सेवकों ने हमें सूचित किया कि राजा तुम लोगों को नगर के बाहर उद्यान में तुरन्त बुला रहे हैं। मैं एवं मेरी बहन ही नहीं परन्तु हमारे साथ अन्तःपुर की रानिया, दासिया, सामन्त, मंत्रीगण साथी एवं अनेक नगर-निवासी दौड़ते हुए वहाँ आये जहाँ राजा एवं मुनिराज थे। सम्पूर्ण नगर रिक्त हो गया।

जब हम राजा के पास आये तब वे मुनिराज के चरणों में शीश झुकाये पड़े थे। उनके नेत्रों से सतत अश्रु-प्रवाह हो रहा था। उनका मुख-मंडल म्लान था। वे अनाथ, अशरण मनुष्य के समान विकल प्रतीत हो रहे थे। मैंने पूछा, ‘पिताजी! ऐसी अचानक क्या आपत्ति आ गई कि आप इतने उदास हो गये हैं? कठोर दिल वाले होकर आप बालक की तरह क्यों रो रहे हैं? पूज्य! आप शीघ्र उत्तर दो। हम सब आपके आधार पर जीवन टिकाये रखने वाले हैं। हमसे आपका यह दुःख सहन नहीं हो रहा है।’

राजा आँसू पोंछते हुए बोले, ‘पुत्र! मेरे मंत्रीगण! नगर-निवासियों! मैं सुख-शान्ति पृष्ठने योग्य मनुष्य नहीं हूँ। मैं चाण्डाल एवं हत्यारे की अपेक्षा भी अत्यन्त भयंकर हूँ। नाम से तो मैं गुणधर हूँ परन्तु अवगुणों का भण्डार हूँ। मैंने अनेक बार अपने पिता एवं दादी का स्वयं के हाथों वध किया है, उन्हें सताया है। मैं उनका मांस भक्षण करने वाला नर भक्षक चाण्डाल मनुष्य हूँ। जगत् में जैसी माता होती है वैसा उसका पुत्र होता है। मेरी माता ने दयालु राजा पति का संहार किया तो उसका पुत्र मैं पितृघातक होंकै उसमें क्या आश्चर्य है? हे नगर-जनो! मुझे ‘चिरंजीव’ कह कर मत पुकारो। ऐसा कहो कि पृथ्वी से शीघ्र अपना बोझा कम करो। मैं प्रजा का पालक न होकर संसार में भार-स्वरूप हूँ। पत्नियों! तुम मुझसे दूर हट जाओ। मैं अब मोह-पाश में फँसना नहीं चाहता। मैं अब आत्म-कल्याण करूँगा। तुम लोगों को यदि उचित प्रतीत हो तो तुम भी आत्म-कल्याण करो। मैंने मोह-वश आज पर्यन्त तुम्हारे जो अपराध किये हों,

उन्हें क्षमा करना। मैं आपके अपराध क्षमा करता हूँ। मुझे राज्य की आवश्यकता नहीं है। नगर-जनों! मैं तुम्हारा राजा बना रहने योग्य नहीं हूँ। मेरा मुँह देखना भी पाप है तो फिर मैं तुम्हारा राजा बना रह कर क्यों तुमसे नमन कराऊँ? पुत्र! तुम्हारा कल्याण हो। नगर-जनों! आपको भी शान्ति प्राप्त हो। मैं अब गुरु-देव के चरणों में लीन होता हूँ और मेरा किसी भी प्रकार से कल्याण हो तो मैं उनकी शरण में जाकर अपना कल्याण करना चाहता हूँ।' हम इसमें अधिक नहीं समझे परन्तु बाद में अर्हदत्त की बात सुन कर हमें भी जातिस्मरणज्ञान हुआ। जैसी राजा की स्थिति थी वैसी स्थिति हमारी भी हुई। घड़ी भर पूर्व एकमात्र राजा अपराधी तुल्य बन कर नेत्रों से अश्रु बहा रहा था, अब हम तीनों जने अश्रु बहाने लगे।

मारिदत्त! प्रजाजनों ने आँसु बहाये, पक्षियों ने दाने चुगना छोड़ दिया और वायु स्थिर हो गई। इस सबके मध्य हम तीनों ने सुदत्त मुनि से पारमेश्वरी दीक्षा अंगीकार की और विजयधर्म नामक राजा के भानजे को राज्य सौंप कर हम तीनों ने पाप को तिलांजलि दे दी।

पाँच मन की बोरी उठाने वाला श्रमिक बोरी रख कर जैसे हलका हो जाता है उसी प्रकार संसार का परित्याग करने से हम पुष्प जैसे हलके हो गये।

तत्पश्चात् हमने सुदत्त मुनि भगवंत को कहा, 'भगवन्! नयनावली अभी तक जीवित है। उसका आयुष्य उसके हाथ में है तो आप उसे प्रतिबोध देकर उसका उद्धार नहीं कर सकते?'



राजा गुणधर, अभयरुचि राजकुमार एवं अभयमति राजकुमारी ने असार संसार का परित्याग कर पारमेश्वरी प्रव्रज्या अंगीकार किया एवं पुष्प तुल्य हलके बन गए।

मुनिवर बोले, 'नयनावली ने तीसरी नरक का आयुष्य ढाँध लिया है। धर्मोपदेश से परिणत होने जैसी उसकी योग्यता नहीं है। अतः उस पर करुणा लाने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग ही नहीं है।'

(६)

मारिदत्त! हमने उज्जयिनी का जंगल छोड़ दिया। सुदत्त मुनि भगवंत सुधर्मा स्वामी गुणधर भगवान के शिष्य हैं। उनके पास गुणधर राजर्षि जो मेरे पिता हैं उनका मैं शिष्य हूँ और ये साध्वी मेरी सगी बहन हैं। मेरा नाम अभयरुचि और इसका नाम अभयमती है। हमारे अट्ठम का पारणा था। इस पारणे के लिए मैं भी भिक्षार्थ निकला था और वे भी भिक्षार्थ निकले थे। तेरे राज-सेवक हमें बत्तीस लक्षणयुक्त मानकर पकड़ लाये और उन्होंने हमें यहाँ तेरे समक्ष कुण्ड में बलि चढ़ाने के लिए प्रस्तुत किया। राजन्! यह हमारा स्वरूप है और एक आटे के मुर्गे का वध करने मात्र से हमने इतने भवों में भटक कर प्रत्यक्ष दुःख का अनुभव किया है, तो हजारों जीवों का प्रत्यक्ष वध करने वाले तेरा क्या होगा? इसका तू स्वयं ही विचार कर।

अभयरुचि मुनिवर ने अपनी आत्मकथा पूर्ण की। राजा के समक्ष देखा तो वह अचेत होकर भूमि पर पड़ा था। सेवकों ने उस पर जल छिड़का तो वह उठ बैठा, 'भगवन्! मेरे अविनय के लिए क्षमा करें। मैं यहाँ राजर्षि गुणधर की प्रतीक्षा कर रहा था। उनका मेरे राज्य में पदार्पण हुआ है यह आप से ही ज्ञात हुआ। उनका सम्मान करने के बदले उन्हीं के शिष्य को मैंने बन्दी बनाया। अद्य मैं उनके पास क्यों जाऊँ? मुनिवर! जयावली मेरी सगी बहन हैं, राजा गुणधर मेरे बहनोई हैं और तुम दोनों मेरे भानजे हो।

महर्षि! मैं अपना होश खो बैठा। देवी के भक्तों के कारण मैं हिंसा के मार्ग पर प्रेरित हुआ। मैंने अनेक जीवों की हिंसा की, मदिरा-पान करके अपनी बुद्धि भ्रष्ट की। सेवको! खड़े हो जाओ और ये मदिरा के घड़े फोड़ डालो, पिंजरे खोल कर पक्षियों को मुक्त कर दो, इन बिचारे निर्दोष मूक पशुओं को खूंटों से मुक्त कर दो। हे देवी के भक्तो! भोले मनुष्यों को भ्रमित कर हिंसा कराना बन्द करो और आप भी हिंसा करना छोड़ दो।'

राजा खड़ा हुआ और देवी की मूर्ति के सामने जाकर बोला, 'देवी! क्या तू जीव-हिंसा से प्रसन्न होती है? तेरे नाम पर यह सय हिंसा हो रही है, उससे क्या तू प्रसन्न है? उत्तर दे, इस समस्त हिंसा का उत्तरदायित्व तेरा है अथवा तेरे भक्तों का है?' राजा की पुकार के बीच गगन में से पुष्प-वृष्टि हुई और तुरन्त ही देवी की प्रतिमा में से दुकूलों से सुशोभित देवी प्रकट हुई और सर्व प्रथम वह मुनिवर को प्रणाम करके बोली, 'राजन्! हिंसा कदापि कल्याणकारिणी नहीं होती। यह आत्म कल्याण अथवा सांसारिक

कल्याण नहीं करती। राजन्! मुनि की वाणी ने तुझे प्रतिबोध दिया है। इतना ही नहीं उनकी वाणी ने मुझे भी प्रतिबोध दिया है।'

लोगों की ओर उन्मुख होकर देवी ने कहा, 'भाइयो! आप मेरी उपासना करते हो, मेरे भक्त हो तो मैं आपको कहती हूँ कि जीव-हिंसा करने से रुको। राजन्! तू सुदत्त मुनि के उपदेश का अनुसरण कर। उनका अनुसरण करके राज्य का पालन कर। मैं धर्म की रक्षक बनी रहूँगी और तुझे धर्म-कार्यों में सहायता करूँगी। तेरे राज्य में चाहने पर ही मेघ वृष्टि करेंगे। तेरा कोई शत्रु नहीं रहेगा। जैसा तू क्रूर राजा गिना जाता था वैसा तू धर्म-परायण गिना जावेगा।'

देवी मुनिवर को प्रणाम करके अन्तर्धान हो गई।

मारिदत्त ने जीव-हिंसा का परित्याग किया और श्रावक धर्म की याचना की। मुनिराज उसे सुदत्त मुनि के पास ले गये। वहाँ जाकर उसने तथा जयावली ने श्रावक धर्म स्वीकार किया।

मारिदत्त नृप धार्मिक बना। नगर के बाहर का उद्यान बलिदान की भूमि के बजाय सौम्य एवं सात्विक देवी का गृह बना। राजपुर नगर अहिंसक नगर के रूप में विख्यात हुआ।

सुदत्त मुनि थोड़े दिन राजपुर नगर में रहे। तत्पश्चात् अनेक जीवों को प्रतिबोध देते हुए आत्मकल्याण करके मोक्ष में गये। महा पापी गुणधर राजर्षि ने भी अन्त में मासिक संलेखना करके केवलज्ञानी बन कर समस्त कर्मों का क्षय करके मोक्ष-लक्ष्मी



राजन्! हिंसा कदापि कल्याणकारिणी नहीं होती। राजन्! मुनि की वाणीने जैसे तुझे प्रतिबोध दिया वैसे ही मैं भी प्रतिबोधित हुई हूँ!

को प्राप्त किया।

अभयरुचि अणगार एवं अभयमती साध्वी अनेक वर्षों तक पृथ्वी पर विचरे और अपनी आत्मकथा के द्वारा अनेक जीवों को हिंसा से रोक कर अहिंसा की ओर उन्मुख करके अन्त में उत्तम ध्यान पूर्वक।

अभयरुचि अणगार एवं अभयमती साध्वी निर्मल चारित्र का पालन करके आठवे सहस्रार देवलोक^१ में गये।

(७)

अभयरुचि अणगार का जीव देवलोक से च्यव कर कोशल देश में अयोध्या के राजा विनयंधर का पुत्र हुआ। यहाँ दैवयोग से उसका नाम यशोधर रखा गया।

साध्वी अभयमती का जीव भी सहस्रार देवलोक में से च्यव कर पाटलीपुत्र के राजा ईशानसेन की पुत्री विनयावती के रूप में उत्पन्न हुआ।

विनयमती ने स्वयंवर में यशोधर से विवाह किया और अयोध्या में उनका विवाहोत्सव भव्यता पूर्वक हुआ।

(८)

अपराहन का समय था। मध्याह्न की गर्मी का शमन होकर शीतलता का प्रारम्भ हो गया था, उस समय राजकुमार यशोधर ने हाथी पर आरूढ़ होकर विनयमती के साथ विवाह करने के लिए प्रयाण किया। उसके आगे विविध वाद्य यंत्र बज रहे थे, पीछे सुहागिन नारियाँ मंगल गीत गा रही थीं, नर्तकियाँ विविध प्रकार के नृत्य करके शोभा में अभिवृद्धि कर रही थीं और मंगल-पाठक आशीर्वाद सूचक श्लोकों का उच्चारण कर रहे थे। जब शोभा यात्रा ठीक अयोध्या के राजमार्ग पर पहुँची तब राजकुमार का दाहिना अंग फड़कने लगा। राजकुमार ने इस शुभ सूचक लक्षण का अभिनन्दन किया। इतने में एक सेठ के घर भिक्षा ग्रहण करके बाहर निकलते हुए एक मुनिवर को उसने देखा। राजकुमार की दृष्टि मुनि पर स्थिर हो गई और उन्हें विचार आया ऐसे साधुत्व का मैंने कहीं अनुभव किया है और वे अचेत हो गये। शोभायात्रा आगे बढ़ रही थी तब राजकुमार की देह लुढ़क गई। महावत चतुर था। उसने कुमार को गिरने से पकड़ लिया। शोभायात्रा रुक गई, वाद्य-यंत्रों की ध्वनि बंद हो गई, मंगल गीत गाने वाली सुहागिनें मौन हो गई, नर्तकियों के नृत्य धम गये और सभी लोग आगे-पीछे होकर

१ यशोधर चरित्र में अभयरुचि अणगार एवं अभयमती आठवे भव में मोक्ष में गये ऐसा उल्लेख है, जबकि हरिभद्रसुरि द्वारा रचित इस कथा में देव का एक भव करने के पश्चात् दसवे भव में मुक्ति प्राप्त करने का उल्लेख है।

राजकुमार के हाथी के चारों ओर घेरा डाल कर खड़े हो गये। सेवकों ने उन्हें पंखा झेलकर शीतलता प्रदान की और जल छिड़का, जिससे कुछ समय में वे स्थिर हुए। चेतना आने पर वे बोले - 'पिताजी! शोभायात्रा नहीं जायेगी। आप एकान्त में आइये। मैं आपसे कोई विशेष बात कहना चाहता हूँ।' शोभायात्रा का विसर्जन हो गया। वाद्ययंत्र आदि भी लौटा दिये गये।

(९)

राजा, राजकुमार एवं आप्त-जन एकान्त में बैठे। राजकुमार यशोधर ने कहा, 'पिताजी! मैं विवाह करना नहीं चाहता। मुझे यह संसार असार प्रतीत होता है। भेड़ों की तरह इस संसार में जीव पग-पग पर लड़खड़ाता है। मुझे संसार के प्रति कोई राग नहीं है।'

विनयंधर ने कहा, 'पुत्र! यह कोई तरीका है। विवाह रचा गया है। दोनों पक्ष के स्वजन विवाह की प्रतीक्षा में हैं। उस समय ऐसा कैसे कहा जाये कि विवाह नहीं करूंगा? यदि विवाह नहीं करना था तो तुझे पहले कहना चाहिये था। यह तो तेरे लिए, मेरे लिए और राजकुमारी तीनों के लिए विडम्बना है।'

यशोधर ने सुरेन्द्रदत्त के भव से लगाकर स्वयं के जातिस्मरणज्ञान हुआ तब तक का समस्त वृत्तान्त सुनाया। विनयंधर आदि सबने स्थिर चित्त से वृत्तान्त सुना। वे विरक्त हो गये फिर भी बोले, 'पुत्र! अभी तू विवाह कर ले। फिर तुझे दीक्षा ग्रहण करनी हो तो वधू को समझाकर तू सुख से दीक्षा ग्रहण करना।'

'पिताजी! आप ऐसा मिथ्या आग्रह क्यों कर रहे हैं? स्त्री तो वैरागी के लिए बन्धन-स्वरूप है, शान्ति के लिये शत्रु-स्वरूप है। सिंह पराक्रमी होते हुए भी पिंजरे में रहने से निष्क्रिय होता है, उस प्रकार स्त्री को स्वीकार करने से दृढ़ वैरागी भी परलोक-साधन में निष्क्रिय हो जाते हैं। पिताजी! आग्रह छोड़कर आप मुझे दीक्षित होने की अनुमति प्रदान करें।'

विनयंधर ने कहा, 'पुत्र! सत्य बात सत्य है परन्तु विवाह के लिए तत्पर विचारी विनयमती का क्या होगा?'

यशोधर बोला, 'यह तो सामान्य बात है। आप मेरी समस्त बात उसे बता दो। यदि उसकी भवितव्यता भी सुदृढ़ होगी तो वह भी विरक्त हो जायेगी।'

विनयंधर ने कहा, 'यदि वह सहमत हो जाये तो मेरी तुझे अनुमति है।'

और शंखवर्धन नामक वयोवृद्ध अमात्य को विनयमती के निवास पर भेज दिया। शंखवर्धन अमात्य का विनयमती ने सत्कार किया और पूछा, 'आपकी क्या आज्ञा है?'

अमात्य ने कहा, 'राजकुमारी! तनिक अपना हृदय सुदृढ़ करो। मैं जो कहता हूँ उसे सावधानी पूर्वक सुनो। आज जब शोभायात्रा चल रही थी तब राजकुमार ने एक साधु को देखा और देखते ही उन्हें जातिस्मरणज्ञान हो गया। वे बोले, 'आज से नौवें भव में मैं सुरेन्द्रदत्त (यशोधर) राजा था। मेरी माता चन्द्रमती (यशोधरा) थी। मेरी रानी नयनावली थी। उस समय मुझे एक वार अशुभ स्वप्न आया।'

यह बात सुनते ही राजकुमारी का मस्तिष्क घूमने लगा। अमात्य बोले, 'राजकुमारी! घबराती क्यों हो? आप तनिक स्वस्थ बनें।'

मन को स्वस्थ करके राजकुमारी ने कहा, 'मंत्री! संसार विचित्र है। यह कथा राजकुमार की अकेले की नहीं है। मेरी भी यही कथा है। चन्द्रमती, यशोधरा मैं स्वयं ही हूँ। पूर्व भव में इन राजकुमार की मैं माता थी। सीधे-सादे राजकुमार को मैंने जीव-हिंसा के मार्ग पर हठ करके प्रेरित किया, जिसके फलस्वरूप वे और मैं दोनों नौ भवों से संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं।'

यह कहते-कहते विनयमती के नेत्रों में आँसू आ गये। वृद्ध अमात्य ने कहा, 'राजकुमारी! जातिस्मरणज्ञान से राजकुमार का चित्त संसार के प्रति उदासीन हो गया है। वे विवाह करना नहीं चाहते। वे दीक्षा ग्रहण करने की हठ कर रहे हैं। अब इस विवाहोत्सव का क्या किया जाये? आप ही हमारा मार्ग-दर्शन करें।'

विनयमती ने कहा, 'अमात्य प्रवर! वे विवाह कैसे करें? जिन्होंने स्वयं अपने नेत्रों से संसार का भयानक चित्र देखा है, वे जान-बुझकर पाप में क्यों गिरें? वे पलभर का भी विलम्ब सहन क्यों करें? वे सहर्ष प्रव्रज्या ग्रहण करें, मेरी सम्पत्ति है और मैं भी प्रव्रज्या ग्रहण करूँगी। हमारे विवाह-मण्डप को दीक्षा-मण्डप बनने दो।'

(१०)

विनयंधर नृप ने राजकुमार यशोधर को दीक्षा ग्रहण करने की अनुमति प्रदान कर दी। उस निमित्त उसने मुक्त हाथों से दान दिया, समस्त चैत्यों में पूजा का आयोजन किया गया और स्वयं भी कनिष्ठ पुत्र यशोवर्धन को राज्य-सिंहासन पर बिठा कर दीक्षा ग्रहण करने के लिए तत्पर हुआ।

विवाहोत्सव से गूँजने वाली अयोध्या नगरी तुरन्त दीक्षोत्सव से गूँजने लगी। मोह एवं विषय-वासना का उत्सव वैराग्य के उत्सव में परिवर्तित हो गया। विवाह के हाथी के स्थान पर पालखी आई। नर्तकियों के नृत्य के स्थान पर वैराग्योत्तेजक जिनेधर भगवान के भक्ति के नृत्य हुए। सुहागिन नारियों के संसारोत्तेजक गीतों के बजाय दीक्षा के महत्त्व एवं कठिनता सूचक मंगल गीत गाये जाने लगे। आमोद-प्रमोद में प्रमुदित स्वजन-वृन्द गम्भीरता पूर्वक वैराग्य मार्ग के अनुमोदन में प्रमुदित होने लगे। नगर

के बाहर उद्यान में सुधर्म नामक मुनिवर के पास विनयंधर नृप ने यशोधरकुमार, विनयमती एवं अनेक अन्य प्रजा-जनों के साथ भाव पूर्वक प्रव्रज्या ग्रहण की।

समय व्यतीत होते होते विद्याध्ययन करके यशोधर मुनि यशोधरसूरि बन गये और उनके संसर्ग से चौथे भव में समरादित्य का जीव जो धनद था वह विरक्त होकर उनके पास दीक्षित हुआ।

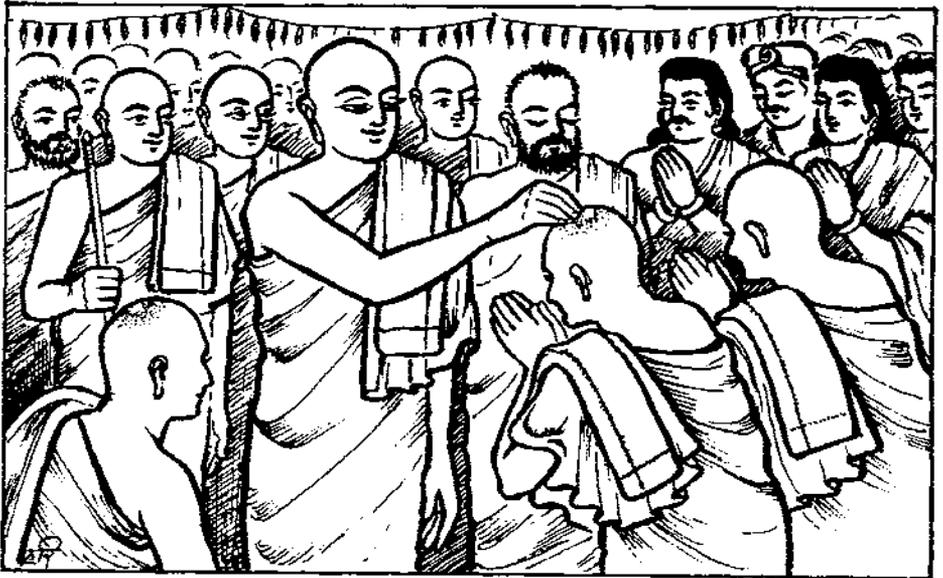
इस प्रकार यशोधरसूरि एवं विनयमती साध्वी ने अपनी आत्मकथा कह कर अनेक जीवों के निमित्त अहिंसा का मार्ग प्रशस्त किया और स्वयं अनेक वर्षों तक चारित्र्य की विशुद्ध आराधना करके केवलज्ञानी बन कर मोक्ष में गये।

उनके साथ दीक्षित होने वालों में से अनेक जीव मोक्ष में गये और अनेक देवलोक में गये।

यशोधर एवं विनयमती आज नहीं हैं तो भी अल्प हिंसा भव-भव में कितनी दुःखद सिद्ध होती है उनके दृष्टान्तों के रूप में उनका नित्य स्मरण किया जाता है और जिनके आलम्बन से अनेक जीव हिंसा से बचते हैं।

(११)

इस 'यशोधर चरित्र के मूल रचयिता १४४४ ग्रन्थों के प्रणेता हरिभद्रसूरि हैं। उक्त मूल चरित्र के आधार पर विक्रम संवत् १८३९ में जैसलमेर में उपाध्याय श्री



नगर के बहार उद्यान में सुधर्म नामक मुनिवर के पास विनयंधर राजा यशोधरकुमार आदि अनेक प्रजाजनों के साथ भाव पूर्वक प्रव्रज्या अंगीकार कर अणगार बने.

क्षमाकल्याणजी ने गद्य में इस चरित्र का सुन्दर आलेखन किया है। जैन साहित्य में बोधप्रद एवं रसप्रद गिने जाने वाले विशिष्ट ग्रन्थों में इस ग्रन्थ का भी विशिष्ट स्थान है।

(यशोधर चरित्र से)

परम पूज्य प्रशान्तरसनिमग्न आचार्यदेव श्रीमत् कैलाससागरसूरीश्वरजी महाराज साहब द्वारा संग्रहित श्री जैन कथासागर - भाग २

शिवमस्तु सर्व जगतः

समाप्त.

अनेक व्यक्ति ऐसे होते हैं जिन्हें
अपने घर के मनुष्य विषतुल्य
प्रतीत होते हैं और पराये मधुर
प्रतीत होते हैं। ऐसे व्यक्तियों
की विपरीत दशा होती है।

अंग्रेजी माध्यम से पढ़नेवाले
अपने लाइले को जैन धर्म के प्राथमिक ज्ञान एवं
संस्कार देने में कठिनाई महसूस करनेवाले
सभी माता-पिता-एवं वडीलों के लिए
अत्यंत आनंददायी समाचार

अपने लाइले के लिए

मुनि श्री निर्वाणसागरजी म. द्वारा लिखित-संपादित
विश्व में सर्वप्रथमबार प्रकाशित होने वाले अद्वितीय पुस्तक

प्रतिक्रमणसूत्र सह विवेचन (भाग १,२) (हिंदी - अंग्रेजी)
pratikramana sūtra with explanation (part 1,2)
(Hindi - English)

आज ही वसाएं. एवं चिता मुक्त वने!

जिसमें आप पाएंगे : मूल सूत्र, शब्दार्थ, गाथार्थ, विशेषार्थ, भावार्थ,
स्तवन, स्तुति, सज्जाय, गुरुवंदन, चैत्यवंदन, देववंदन, सामायिक,
देवसीअ-राइअ प्रतिक्रमण एवं पच्चक्खाण पारने की विधियाँ, प्रतिक्रमण
की क्रियामें उपयोगी विविध मुद्राओं का परिचय ४० रंगीन चित्रों द्वारा,
एवं अन्य अनेक विशेषताओं से युक्त!

और हॉ! सभी कुछ हिन्दी एवं अंग्रेजी में एक साथ !!!

भाग - १ एवं २
मूल्य १२५-०० + २५ -०० रु. (रजि. डाक खर्च के)



प्रकाशक :- श्री अरुणोदय फाउन्डेशन

C/o Chandrakantbhai J. Shah ☎ (079) 6565329.

5/A/3 Arjun Complex, Satellite Road,

Ahmedbad - 380015 (Gujrat [India])





श्री अरुणोदय फाउन्डेशन

SHREE ARUNODAYA FOUNDATION

MUMBAI * BOMBAY * KOLKATA * BANGALORE * CHENNAI